जीवन-विज्ञान
और
कर्मयोग का रहस्य

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

अक्तूबर २०२०

विषय-सूची

सन्देश — श्रीमाँ ३

भाग १ श्रीमाँ के वचन

ओह, बेचैन क्यों हुआ जाये ४
जीवन-विज्ञान ५
अपनी संकल्प-शक्ति को कैसे बढ़ाया जाये १३
कार्य में कठिनाइयाँ २२
हम साधना क्यों करते हैं २४

भाग २ श्रीअरविन्द के वचन

कर्मयोग का सम्पूर्ण रहस्य २७
यह कर्मयोग है ३०
कर्म का बन्धन : कैसे मुक्त हों इससे ३१
हमारे कर्म की प्रेरक शक्ति ३३
संक्षेप में, यही हमसे अपेक्षा की जाती है ३५
अभीप्सुओं के लिए मार्गदर्शन ३८
श्रीअरविन्द के मान्त्रिक वचन ४२
इस सिद्धान्त का पालन करो ४४

'पुरोधा'

दैनन्दिनी ४५
ध्यान — श्रीअरविन्द ४८
'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन' :
नींद को सचेतन बनाना — नवजातजी ४९
श्रीमाँ के साथ रवीन्द्रजी का पत्र-व्यवहार — 'श्रीमातृवाणी' से ५१
लघु पुष्प की स्तुति-वन्दना — वन्दना ५५
ए.जी.एम की सूचना (आवरण ३)

सन्देश

अपनी कृतज्ञता जताने का सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि हम अपने अन्दर अहं को जीतें और इस रूपान्तर के लिए सतत प्रयास करते रहें। मानव अहं गद्दी छोड़ने से यह कह कर इन्कार करता है कि दूसरे लोग रूपान्तरित नहीं हुए हैं। लेकिन वही तो दुर्भावना का गढ़ है। प्रत्येक का कर्तव्य यही है कि दूसरे क्या करते हैं उसकी चिन्ता किये बिना अपने-आपको रूपान्तरित करे।

अगर मनुष्य को पता चले कि सतत शान्ति और आनन्द पाने का एकमात्र उपाय है यह रूपान्तर, अहं का यह नाश, तो वह आवश्यक प्रयास करने के लिए तत्पर होगा। यही वह दृढ़ विश्वास है जो उनमें जागना चाहिये।

प्रत्येक से बार-बार कहना चाहिये: अपने अहं का नाश करो और तुम्हारे अन्दर शान्ति का राज्य होगा।

भागवत सहायता सच्ची अभीप्सा को हमेशा प्रत्युत्तर देती है।

—श्रीमाँ

इस अंक में 'श्रीमातृवाणी' के सन्दर्भ पुराने खण्डों के दिये गये हैं—सं.

भाग १

ओह, बेचैन क्यों हुआ जाये

ओह, बेचैन क्यों हुआ जाये और यह चाह क्यों की जाये कि हमारे लिए वस्तुएँ अमुक दिशा ही अपनाएँ, कोई और नहीं! यह निश्चय ही क्यों किया जाये कि परिस्थितियों का अमुक संगठन ही सर्वोत्तम सम्भावनाओं की अभिव्यक्ति होगा और तब एक कटु संघर्ष में कूद पड़ना ताकि ये सम्भावनाएँ चरितार्थ हों! अपनी सारी ऊर्जा को आन्तरिक विश्वास की शान्ति में केवल यही चाहने में क्यों न लगाया जाये कि हर जगह, हमेशा सभी कठिनाइयों पर, समस्त अन्धकार और समस्त अहंकार पर तेरे विधान की विजय हो! यह वृत्ति अपनाना सीखते ही क्षितिज कितना विस्तृत हो जाता है; कैसे सारी चिन्ताएँ ग़ायब हो जाती हैं और अपना स्थान सतत प्रकाश, निःस्वार्थता की सर्वशक्तिमत्ता को दे देती हैं! हे प्रभो, जो तू चाहता है वही चाहने का अर्थ है, सदा तेरे साथ सायुज्य में रहना, सभी आकस्मिकताओं से मुक्त होना, सभी संकीर्णताओं से बच निकलना, अपने फेफड़ों को शुद्ध और स्वास्थ्यकर हवा से भर लेना, व्यर्थ की समस्त क्लान्ति से पिण्ड छुड़ाना, सभी बोझिल भारों से हलका होना ताकि हम पाने-योग्य एकमात्र लक्ष्य की ओर तेज़ी से दौड़ सकें : यह है तेरे दिव्य विधान की जय!

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. ६५

जीवन-विज्ञान

अपने-आपको जानना और संयत करना

लक्ष्यहीन जीवन दु:खी जीवन होता है।

तुममें से प्रत्येक का अपना लक्ष्य होना चाहिये। परन्तु यह कभी न भूलना कि तुम्हारे लक्ष्य के गुणों पर तुम्हारे जीवन के गुण निर्भर होंगे।

तुम्हारा लक्ष्य होना चाहिये उच्च और विशाल, उदार और निष्काम; तब तुम्हारा जीवन तुम्हारे अपने लिए और दूसरों के लिए भी बहुमूल्य हो जायेगा।

परन्तु तुम्हारा आदर्श चाहे जो भी हो, तुम उसे तब तक पूर्ण रूप से नहीं प्राप्त कर सकते जब तक कि तुम अपने अन्दर पूर्णता नहीं पा लेते।

सत्ता का शुद्धीकरण और एकीकरण :[१]

अपनी पूर्णता प्राप्त करने के लिए सबसे पहला पग है अपने विषय में सचेतन होना, अपनी सत्ता के विभिन्न अंगों और उनकी अलग-अलग क्रियाओं के विषय में सचेतन होना। तुम्हें इन सब अंगों को एक-दूसरे से अलग करके देखना और पहचानना सीखना चाहिये ताकि तुम स्पष्ट रूप से यह पता लगा सको कि तुम्हारे अन्दर जो सब क्रियाएँ होती हैं, तुम्हें कर्म में जोतने वाले जो अनेक प्रकार के आवेग-प्रवेग, प्रतिक्रियाएँ और परस्पर-विरोधी इच्छाएँ तुम्हारे अन्दर उठती हैं, उन सबका मूल कहाँ है। यह एक श्रमसाध्य अध्ययन होगा और इसके लिए बहुत अधिक लगन और सच्चाई की आवश्यकता है। क्योंकि मानव स्वभाव की, विशेषकर मन के स्वभाव की यह एक सहज प्रवृत्ति होती है कि हम जो कुछ सोचते, अनुभव करते, कहते और करते हैं उसकी हम एक अनुकूल व्याख्या दे डालते हैं। जब हम बहुत अधिक सावधानी के साथ इन सारी क्रियाओं को देखेंगे, मानों इन्हें अपने उच्चतम आदर्श के न्यायालय में पेश करेंगे और उसके निर्णय के सामने झुक जाने का सच्चा संकल्प बनाये रखेंगे, केवल तभी हम यह आशा कर सकते हैं कि हमारे अन्दर एक ऐसा विवेक उत्पन्न होगा जो

[१] उपशीर्षक सम्पादक द्वारा जोड़े गये हैं।

कभी भूल न करेगा। क्योंकि अगर हम सचमुच उन्नति करना और अपनी सत्ता के सत्य को जानने की क्षमता प्राप्त करना चाहते हैं, अर्थात्, उस एक बात को जान लेना चाहते हैं जिसके लिए वास्तव में हमने जन्म लिया है, जिसे हम इस पृथ्वी पर अपना उद्देश्य कह सकते हैं, तो फिर, जो चीज़ें हमारी सत्ता के सत्य का खण्डन करती हैं, जो चीज़ें उसका विरोध करती हैं, उन सबको हमें बहुत नियमित रूप से और निरन्तर अपने अन्दर से निकालते रहना होगा अथवा उन्हें अपने अन्दर नष्ट करते रहना होगा। बस, इसी तरह धीरे-धीरे हमारी सत्ता के सभी भाग, सभी अंग संघटित होकर हमारे चैत्य केन्द्र के इर्द-गिर्द एक पूर्ण सुसमञ्जस वस्तु का रूप ग्रहण कर सकेंगे। इस एकीकरण के कार्य को एक हद तक पूर्णता प्राप्त कराने के लिए एक लम्बे समय की आवश्यकता होती है। इसीलिए, इसे सिद्ध करने के लिए, हमें धैर्य और सहनशीलता-रूपी अस्त्रों से सुसज्जित होना चाहिये और यह निश्चय कर लेना चाहिये कि अपने प्रयास को सफल बनाने के लिए जितने दिनों तक अपना जीवन बनाये रखने की आवश्यकता होगी उतने दिनों तक हम उसे बनाये रखेंगे।

बाह्य सत्ता की पूर्णता :

और इस शुद्धीकरण और एकीकरण का प्रयास करने के साथ-ही-साथ तुम्हें अपनी सत्ता के यन्त्रवत् काम करने वाले बाहरी भाग को पूर्ण बनाने की ओर भी बहुत अधिक ध्यान देना चाहिये। जब उच्चतर सत्य अभिव्यक्त होना चाहे तब उसे तुम्हारे अन्दर एक ऐसी मनोमय सत्ता मिलनी चाहिये जो पर्याप्त रूप में सूक्ष्म और समृद्ध हो, जो प्रकट होने की चेष्टा करने वाली भावना को विचार का एक ऐसा रूप देने में समर्थ हो जो उसकी शक्ति और स्पष्टता की रक्षा कर सके। फिर, वह विचार जब शब्दों का जामा पहनने की चेष्टा करे तब तुम्हारे अन्दर उसे स्वयं को व्यक्त करने की यथेष्ट शक्ति प्राप्त हो ताकि शब्द उस विचार को प्रकाशित कर सकें और उसे विकृत न कर डालें। और जिस सिद्धान्त के अन्दर तुम सत्य को मूर्तिमान् करते हो, उसे तुम्हारे सभी मनोभावों, तुम्हारी सभी इच्छाओं और क्रियाओं, तुम्हारी सत्ता के सभी क्रिया-कलापों में प्रकट होते रहना चाहिये। और अन्त में, निरन्तर प्रयास के द्वारा, स्वयं इन सब क्रियाओं को

भी अपनी उच्चतम पूर्णता प्राप्त करनी चाहिये।

यह सब एक चतुर्विध साधना के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, जिसकी सामान्य रूप-रेखा हम यहाँ दे रहे हैं। इस साधना के ये चारों रूप एक-दूसरे से अलग-अलग नहीं हैं, इनका अनुसरण मनुष्य एक साथ भी कर सकता है; वास्तव में, ऐसा करना ही अच्छा है।

चैत्य की खोज :

इस साधना का जहाँ से आरम्भ होता है उसे हम चैत्य साधना कह सकते हैं। हम अपनी सत्ता की अन्तश्चेतना के केन्द्र को, अपने जीवन के उच्चतम सत्य के आन्तर धाम को "चैत्य" नाम से पुकारते हैं, यही वह केन्द्र है जो इस सत्य को जान सकता है और अभिव्यक्त कर सकता है। अतएव, हमारे लिए सबसे प्रधान बात यह है कि हम अपने अन्दर इसकी उपस्थिति के बारे में सचेतन हों और अपने लिए इसे एक जीवन्त सत्य बना लें और इसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लें।

इस सचेतनता को प्राप्त करने के लिए और अन्त में इस तादात्म्य को सिद्ध करने के लिए देश और काल के अन्तर्गत बहुत-सी पद्धतियाँ निश्चित की गयी हैं। कुछ पद्धतियाँ मनोवैज्ञानिक हैं, कुछ धार्मिक, और कुछ यान्त्रिक भी हैं। सच पूछा जाये तो प्रत्येक मनुष्य को वह पद्धति ढूँढ़ निकालनी होगी जो उसके लिए सबसे अधिक उपयुक्त हो। और अगर साधक में सच्ची और सुदृढ़ अभीप्सा हो, अटूट और सक्रिय संकल्प-शक्ति हो तो यह निश्चित है कि वह एक-न-एक तरीक़े से—बाहर से अध्ययन और उपदेश के द्वारा, अन्दर से एकाग्रता, ध्यान, अन्तर्दर्शन और अनुभव के द्वारा—उस सहायता को अवश्य पायेगा जो लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उसके लिए आवश्यक है। केवल एक ही चीज़ है जो पूर्ण रूप से अनिवार्य है, और वह है उसे खोज निकालने और प्राप्त करने का संकल्प। यह खोज और प्राप्ति ही सत्ता का सबसे पहला कार्य होना चाहिये, यही वह बहूमूल्य मोती है जिसे हमें चाहे किसी भी मूल्य पर प्राप्त करना चाहिये। तुम चाहे जो कुछ करो, तुम्हारा व्यवसाय और कार्य जो भी हों, अपनी सत्ता के सत्य को पाने और उसके साथ युक्त होने का तुम्हारा संकल्प हमेशा ही जीवन्त बना रहना चाहिये, जो कुछ तुम करते हो, जो कुछ तुम अनुभव

करते हो, और जो कुछ तुम विचार करते हो, उस सबके पीछे उसे सदा विद्यमान रहना चाहिये।

मानसिक विकास :

आन्तरिक खोज की इस क्रिया को पूरा करने के लिए यह अच्छा है कि मानसिक विकास की उपेक्षा न की जाये। क्योंकि हमारा मनोमय यन्त्र एक समान ही हमारा बहुत बड़ा सहायक या बहुत बड़ा बाधक हो सकता है। अपनी स्वाभाविक स्थिति में मानव मन हमेशा ही अपनी दृष्टि में सीमित होता है, अपनी समझ में संकीर्ण और अपनी परिकल्पनाओं में कठोर, अतः इसे विशाल, गभीर और नमनीय बनाने के लिए सतत प्रयास की आवश्यकता होती है। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि मनुष्य प्रत्येक बात पर जितने दृष्टिकोणों से विचार करना सम्भव हो उतने दृष्टिकोणों से विचार करे। इस विषय से सम्बन्धित एक अभ्यास ऐसा है जो विचार में बहुत अधिक नमनीयता और ऊँचाई ले आता है। वह इस प्रकार है : स्पष्ट रूप से प्रकट की गयी एक धारणा, एक मत सामने रख देना चाहिये, फिर उसके मुक़ाबले में उसका विरोधी मत भी ला उपस्थित करना चाहिये जो वैसी ही सूक्ष्मता के साथ प्रकट किया गया हो। फिर, सावधानी के साथ चिन्तन-मनन करते हुए उस समस्या को विस्तारित करना चाहिये अथवा उसका अतिक्रम करना चाहिये जब तक कि एक ऐसा समन्वय प्राप्त न हो जाये जो उन अत्यन्त विरोधी मतों को भी एक विशालतर, उच्चतर और अधिक व्यापक भावना के अन्दर युक्त कर दे।

इसी तरह के बहुत से अभ्यास काम में लाये जा सकते हैं; ऐसे कुछ अभ्यासों का चरित्र के ऊपर लाभदायी प्रभाव पड़ता है और इसलिए वे द्विविध लाभ प्रदान करते हैं—एक ओर तो वे मन को विकसित करते हैं और दूसरी ओर मनुष्य के अनुभवों और उनके परिणामों के ऊपर संयम स्थापित करते हैं। उदाहरणार्थ, तुम्हें वस्तुओं और लोगों के विषय में अपने मन को कोई निर्णय नहीं करने देना चाहिये, क्योंकि मन ज्ञान का यन्त्र नहीं है—यह तो ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है—बल्कि इसे स्वयं ज्ञान के द्वारा चालित होना चाहिये। ज्ञान तो उस क्षेत्र की चीज़ है जो मानव मन के क्षेत्र से बहुत ऊपर है, यहाँ तक कि वह शुद्ध भावनाओं के क्षेत्र से भी

परे है। मन को निश्चल-नीरव और सतर्क बनाना होगा ताकि वह ऊपर से ज्ञान को ग्रहण कर सके और उसे अभिव्यक्त कर सके, क्योंकि वह रूप देने, संघटन करने और कार्य करने का यन्त्र है। वास्तव में, इन्हीं कार्यों के अन्दर वह अपने पूरे मूल्य और यथार्थ उपयोगिता को प्राप्त करता है।

एक दूसरा अभ्यास है जो चेतना की प्रगति में बहुत अधिक सहायक हो सकता है। जब कभी किसी विषय पर मतभेद हो, जैसे कि कोई निर्णय करने के समय अथवा कोई कार्य पूरा करने के समय, तब हमें कभी अपनी धारणा या दृष्टिकोण से चिपके नहीं रहना चाहिये। बल्कि, इसके विपरीत, हमें दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास करना चाहिये, अपने-आपको उसके स्थान पर रख देना चाहिये और तर्क-वितर्क या, यहाँ तक कि, लड़ाई-झगड़ा करने के बदले, एक ऐसा समाधान ढूँढ़ निकालना चाहिये जो दोनों पक्षों को युक्तिसंगत ढंग से सन्तुष्ट कर सके; सदिच्छा-सम्पन्न मनुष्यों के लिए हमेशा ही एक ऐसा समाधान तैयार रहता है।

प्राण का अनुशासन (जीवन-शक्ति) :

यहाँ पर हमें प्राण के अनुशासन की चर्चा भी अवश्य करनी चाहिये। हमारे अन्दर यह प्राणमय सत्ता ही आवेग-प्रवेग और कामना-वासना का, उत्साह और तीव्रता का, क्रियात्मक ऊर्जा और निराशापूर्ण अवसाद का, उत्तेजना और विद्रोह का घर है। यह प्रत्येक चीज़ को गति प्रदान कर सकती, गढ़ सकती और सिद्ध कर सकती है; साथ ही यह प्रत्येक चीज़ को तोड़-फोड़ और नष्ट भी कर सकती है। ऐसा मालूम होता है कि मनुष्य के अन्दर यही भाग ऐसा है जिसे उन्नत करना सबसे अधिक कठिन है। इसे उन्नत करना दीर्घ परिश्रम का कार्य है और इसके लिए महान् धैर्य की आवश्यकता होती है, और यह पूर्ण सच्चाई की अपेक्षा रखता है। क्योंकि सच्चाई न होने पर मनुष्य एकदम आरम्भ से ही अपने-आपको धोखा देने लगेगा और उन्नति का उसका सारा प्रयास व्यर्थ चला जायेगा। अगर प्राण का सहयोग प्राप्त हो तो कोई भी सिद्धि असम्भव नहीं मालूम होती, किसी प्रकार का रूपान्तर असाध्य नहीं प्रतीत होता। परन्तु निरन्तर उसका यह सहयोग प्राप्त करना बड़ा कठिन है। प्राण एक अच्छा कार्यकर्ता है, परन्तु अधिकतर वह अपनी ही तुष्टि की चेष्टा करता है। अगर उसकी

कामना पूरी नहीं की जाती, चाहे पूर्ण रूप में या आंशिक रूप में भी, तो वह झुँझला उठता है, नाराज़ हो जाता है और हड़ताल कर बैठता है। फलस्वरूप, कम या अधिक पूर्ण रूप से, उसकी शक्ति विलीन हो जाती है और उसके स्थान पर मनुष्यों और वस्तुओं के प्रति विराग, निरुत्साह या विद्रोह, अवसाद और असन्तोष छा जाता है। ऐसे मौक़ों पर मनुष्य को स्थिर-अचञ्चल बने रहना चाहिये और क्रिया करना अस्वीकार कर देना चाहिये; क्योंकि ऐसे ही समय में लोग मूर्खतापूर्ण कार्य कर बैठते हैं और जिस चीज़ को उन्होंने महीनों निरन्तर प्रयास करके प्राप्त किया होता है उसको, उसके द्वारा प्राप्त की हुई सारी उन्नति को, वे कुछ मिनटों में ही बिगाड़ या चौपट कर सकते हैं। ये सब कठिन परिस्थितियाँ उन लोगों के लिए अल्पकालिक और कम ख़तरनाक होती हैं जिन्होंने अपनी चैत्य सत्ता के साथ ऐसा सम्पर्क स्थापित कर लिया है जो उनके अन्दर अभीप्सा की ज्योति को जीवन्त रखने के लिए और जिस आदर्श को सिद्ध करना है उसका बोध बनाये रखने के लिए पर्याप्त है। वे लोग इस चेतना की सहायता से, धैर्य और लगन से, अपने प्राण के साथ एक विद्रोही बच्चे की तरह व्यवहार कर सकते हैं, उसे सत्य और ज्योति दिखा सकते हैं, उसमें विश्वास जमाने का और जो सदिच्छा कुछ समय के लिए आच्छादित हो गयी थी, उसे जगाने का प्रयास कर सकते हैं। ऐसे धैर्यपूर्ण हस्तक्षेप की सहायता से प्रत्येक कठिन परिस्थिति को एक नयी प्रगति के रूप में, लक्ष्य की ओर बढ़े हुए एक नये पग के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। प्रगति धीमी हो सकती है, पतन बार-बार हो सकता है, परन्तु यदि साहसपूर्ण संकल्प बनाये रखा जाये, तो यह निश्चित है कि हम एक दिन विजयी होंगे और यह देखेंगे कि सभी कठिनाइयाँ सत्य की जाज्वल्यमान चेतना के सामने गल गयी या विलीन हो गयी हैं।

शारीरिक शिक्षण :

अन्त में, एक युक्तिसंगत और स्पष्टदर्शी शारीरिक शिक्षण के द्वारा हमें अपने शरीर को भी सुदृढ़ और सुकोमल अवश्य बनाना चाहिये ताकि जो सत्य-शक्ति हमारे अन्दर अभिव्यक्त होना चाहती है उसके लिए हमारा शरीर इस जड़ जगत् के अन्दर एक उपयुक्त यन्त्र बन सके।

वास्तव में, शरीर को कभी हुक्म नहीं चलाना चाहिये, उसे तो हुक्म मानना चाहिये। अपने सहज स्वभाव में वह एक विनीत और विश्वासपात्र सेवक है। दुर्भाग्यवश, अपने प्रभुओं के—मन और प्राण के—विषय में विवेक-विचार करने की क्षमता बहुधा उसमें नहीं होती। वह अन्ध-भाव से, अपने निजी हित का बलिदान देकर भी, उनकी आज्ञा का पालन करता है। मन अपने मतवादों, अपने कठोर और मनगढ़न्त सिद्धान्तों के द्वारा, प्राण अपनी उत्तेजनाओं, अपनी ज़्यादतियों और दुर्वृत्तियों के द्वारा शरीर के स्वाभाविक सन्तुलन को नष्ट कर देते हैं और उसमें थकान, दुर्बलता और रोग ले आते हैं। इस अत्याचार से शरीर को अवश्य मुक्त करना होगा, और चैत्य केन्द्र के साथ सत्ता का निरन्तर एकत्व स्थापित करने पर ही ऐसा करना सम्भव हो सकता है। हमारे शरीर में मेल बैठाने और सहन करने की अद्‌भुत क्षमता है। हम साधारणतया जितना अनुमान कर सकते हैं उससे बहुत अधिक कार्य करने की क्षमता उसमें है। अभी जो अज्ञानी और स्वेच्छाचारी प्रभु इस पर शासन कर रहे हैं उनके स्थान पर यदि सत्ता के केन्द्रीय सत्य का शासन इस पर हो जाये तो उस समय इसकी कार्यक्षमता को देख कर मनुष्य दंग रह जायेगा। तब शान्त और स्थिर, दृढ़ और अचल रहते हुए हम जितना चाहें उतना प्रयास वह प्रत्येक मुहूर्त करेगा, क्योंकि उस समय वह सीख चुका होगा कि काम के अन्दर किस तरह विश्राम लिया जाता है, और जिन शक्तियों को वह ज्ञानपूर्वक और लाभ के लिए ख़र्च कर रहा है उनकी पूर्ति वह विश्वशक्तियों के साथ संस्पर्श स्थापित करके किस प्रकार कर सकता है। इस स्वस्थ और सन्तुलित जीवन में शरीर के अन्दर एक नया सामञ्जस्य अभिव्यक्त होगा जो उच्चतर क्षेत्रों के सामञ्जस्य को प्रतिबिम्बित करेगा और यह उच्चतर सामञ्जस्य शरीर को पूर्ण अंगसौष्ठव और आदर्श सौन्दर्य प्रदान करेगा। और यह सामञ्जस्य क्रमशः बढ़ता रहेगा, क्योंकि सत्ता का सत्य कभी अचल-अटल नहीं होता। वह निरन्तर एक वर्धनशील, एक अधिकाधिक सर्वांगीण और सर्वग्राही परिपूर्णता की ओर खुलता रहता है। जैसे ही शरीर इस क्रमवर्धमान सामञ्जस्य की गति का अनुसरण करना सीख लेगा, वैसे ही उसके लिए, रूपान्तर की लगातार होने वाली प्रक्रिया के द्वारा, भंग और विनष्ट होने की आवश्यकता से बच जाना सम्भव हो जायेगा। इस तरह मृत्यु के अटल विधान के बने

रहने के लिए कोई कारण नहीं रह जायेगा।

सत्य के चार पहलुओं की सहज अभिव्यक्ति :

जब हम पूर्णता की इस मात्रा को प्राप्त कर लेंगे, जो कि हमारा लक्ष्य है, तब हम देखेंगे कि जिस सत्य की खोज हम कर रहे हैं वह चार प्रधान चीज़ों से बना है—प्रेम, ज्ञान, शक्ति और सौन्दर्य। सत्य के ये चारों रूप अपने-आप हमारी सत्ता के अन्दर अभिव्यक्त होंगे। चैत्य पुरुष होगा सच्चे और शुद्ध प्रेम का वाहन, मन होगा अभ्रान्त ज्ञान का यन्त्र, प्राण प्रकट करेगा एक अदम्य शक्ति और सामर्थ्य; और शरीर बन जायेगा पूर्ण सौन्दर्य और पूर्ण सामञ्जस्य की प्रतिमा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ३-८

"अपने-आपको जानने और अपने-आपको संयमित करने" का क्या अर्थ है?

इसका अर्थ है अपने आन्तरिक सत्य के प्रति सचेतन होना, अपनी सत्ता के विभिन्न अंगों और उनका अपनी-अपनी क्रियाओं के विषय में सचेतन होना। तुम्हें यह जानना चाहिये कि तुम ऐसा क्यों कर रहे हो, वैसा क्यों कर रहे हो; तुम्हें अपने विचारों को जानना चाहिये, अपने हृद्गत भावों को जानना चाहिये, अपनी सारी क्रियाओं को, सारी गतियों को, अपनी क्षमता इत्यादि सबको जानना चाहिये। और अपने-आपको जानना ही पर्याप्त नहीं है; यह आवश्यक है कि यह ज्ञान हमें सचेतन संयम प्रदान करे। अपने-आपको पूर्णतः जानने का अर्थ है अपने-आपको पूर्णतः संयमित करना।

किन्तु यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने जीवन में प्रतिक्षण अभीप्सा बनाये रखे।

इसे आरम्भ करने के लिए न तो कोई समय बहुत जल्दी का है, और न जारी रखने के लिए कोई समय बहुत देर का। कहने का मतलब यह है कि जब तुम कम उम्र के हो तब भी अपने-आपको ध्यानपूर्वक देखना, जानना-समझना और धीरे-धीरे संयमित करना आरम्भ कर सकते हो। और जब तुम उस अवस्था में पहुँच जाते हो जिसे लोग 'बुढ़ापा' कहते

हैं, जब तुम बहुत बूढ़े हो जाते हो, उस समय भी यदि तुम अपने-आपको अधिकाधिक अच्छे रूप में जानने और अधिकाधिक अच्छे रूप में संयमित करने का प्रयास करो तो उसे देर नहीं कह सकते। बस, यही है जीवन यापन करने का यथार्थ विज्ञान।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ३३-३४

अपनी संकल्प-शक्ति का अर्पण कैसे किया जाये

"आवश्यक बात यह है कि तुम निष्क्रिय समर्पण न करो जिसमें तुम पत्थर की तरह बन जाते हो, बल्कि अपनी संकल्प-शक्ति को 'भागवत संकल्प-शक्ति' के हाथों में सौंप दो।"

('प्रश्न और उत्तर', २१ अप्रैल १९२९)

अपनी संकल्प-शक्ति को मनुष्य कैसे अर्पित कर सकता है?... कुछ लोग, जब वे अपनी संकल्प-शक्ति अर्पित करते हैं, संकल्प करना ही छोड़ देते हैं! यह अधिक सुविधाजनक है, पर स्पष्ट ही यह यथाार्थ पद्धति नहीं है।

भला कोई मनुष्य अपनी संकल्प-शक्ति 'भगवान्' को कैसे अर्पित कर सकता है जब वह जानता ही नहीं कि भागवत 'संकल्प' क्या है? यह एक बहुत मज़ेदार समस्या है।

कुछ लोग यह समझते हैं कि जो कुछ बाहर से उनके पास आता है वह दिव्य 'संकल्प' है, और वे उसे उसी रूप में स्वीकार कर लेते हैं।

हाँ, दुर्भाग्यवश! परन्तु वे जो कुछ करते हैं वह है समष्टिगत संकल्प को स्वीकार करना अथवा सबसे शक्तिमान् का संकल्प स्वीकार करना।

क्या मनुष्य को अपने सभी इच्छित कर्मों को भगवान् के प्रति समर्पित नहीं कर देना चाहिये? अर्थात्, सबसे पहले इच्छित कर्म करना चाहिये और फिर उन्हें अर्पित कर देना चाहिये।

सम्भवतः पहले तुम्हें अपनी इच्छा को नीरव बना देना चाहिये और कर्म करने से पहले आन्तरिक वाणी की प्रतीक्षा करनी चाहिये! यह अधिक बुद्धिमानी की बात होगी।

अच्छा तो, हमने अपनी इच्छा को भगवान् के प्रति अर्पित करने के कई तरीक़े पा लिये हैं : पहला, अब कोई इच्छा ही न करना! दूसरा, वही कार्य करना जिसे तुम्हारे सिवा सब लोग चाहते हैं! तीसरा, चाहे तुम कुछ भी चाहो और चाहे तुम कुछ भी क्यों न करो, फिर बाद में जो कुछ तुमने किया है उसे भगवान् को अर्पित कर देना!

परन्तु मनुष्य अपने-आपमें अपनी इच्छा को एक रूप दे सकता और उसे अपने उच्चतर आदर्श के परदे के सामने रखने का प्रयास भी कर सकता है, और यह देख सकता है कि इस आदर्श के सम्मुख वह कैसी दिखायी पड़ती है, कि वह वहाँ सुन्दर दिखायी देती है या नहीं। यदि वह कम्पायमान हो तो तुम्हें निश्चित रूप से जान लेना चाहिये कि वहाँ कोई चीज़ जाँच करने-लायक़ है। दूसरी ओर, यदि वह चुपचाप किसी विरोध के बिना निकल जाये तो तुमने जो कुछ चाहा था उसे करने का ख़तरा उठा सकते हो और परिणाम देख सकते हो। परन्तु यहाँ भी हम एक बहुत कठिन समस्या के सामने उपस्थित होते हैं...। जो लोग एक प्रकार की आन्तरिक शान्ति में बने रहना चाहते हैं, वे कहते हैं कि जो कुछ घटित होता है वह सब ईश्वर की इच्छा होती है—यह शान्त-स्थिर बने रहने के लिए बहुत सुविधाजनक है, यह सबसे उत्तम तरीक़ा है, इससे अधिक अच्छा कोई तरीक़ा नहीं है; यदि कोई अधिक अच्छा तरीक़ा है भी तो वह बहुत कठिन है। अतएव, यदि तुम्हारी इच्छा का खण्डन होता है तो तुम कहते हो कि यह ईश्वर की इच्छा है और तुम अचञ्चल बने रहते हो, जो कुछ तुम कर सकते थे कर चुके फिर भी परिणाम तुम्हारी आशा से भिन्न हुआ है, पर तुम शान्ति से पूर्ण रहते हो। (ध्यान रखो कि यह चीज़ बहुत आसान नहीं है; वैसे इस हद तक यह है बहुत ही अच्छी, पर यही सब कुछ नहीं है)। परन्तु यह भी बहुत सम्भव है कि तुम्हारी इच्छा का खण्डन परिस्थितियों के द्वारा हुआ हो और फिर भी वह सही हो। इस स्थिति में समाधान बहुत अधिक कठिन होता है। पहले, यह कैसे जाना जाये कि वह सही था?... यदि तुम बिलकुल तटस्थ, स्थिर, शान्तिपूर्ण और यथासम्भव

कम-से-कम अहंकारपूर्ण रहते हो, और घटित घटना पर सीधे दृष्टिपात करने पर तुम वहाँ एक प्रकार का अन्तर्विरोध पाते हो और तुम्हारे अन्दर यह भावना उठती है कि एक ज्योति चली गयी है और तुम मिथ्यात्व के सम्मुख उपस्थित हो, तो यद्यपि तुम बिलकुल शान्त बने रहते हो पर यह देख और समझ लेते हो कि किसी अज्ञात कारण से तुम्हारी इच्छा खण्डित हो गयी है, यद्यपि अपने-आपमें वह मिथ्या नहीं थी, कि तुमने जो देखा वह सत्य था लेकिन किसी-न-किसी कारणवश वह अपने-आपको अभिव्यक्त न कर पाया। तो तुम्हें इस कारण को ढूँढ़ निकालने के अभियान पर कूच कर देना चाहिये कि तुम्हारा सत्य स्वयं को अभिव्यक्त क्यों न कर पाया। यह समस्या कुछ ज़्यादा कठिन है... लेकिन अगर तुम अपनी अन्तर्दृष्टि को ऊँचाई और विस्तार दोनों में पर्याप्त रूप से विकसित कर लो तो तुम तुरन्त यह देख सकते हो कि अगर वह सत्य संसिद्ध हो जाता तो उसका तुम्हारे संकल्प पर क्या प्रभाव पड़ता और उसके क्या परिणाम आते; और अगर तुम अपनी दृष्टि को अधिक दूर तक ले जाओ तो तुम देख सकोगे कि तुम्हारा संकल्प चाहे जितना सच्चा क्यों न हो, वह बस आंशिक सत्य था—वह सामूहिक, व्यापक सत्य न था, और वैश्व सत्य तो और भी कम —और, फलस्वरूप, यदि यह सत्य उस क्षण संसिद्ध हो गया होता तो उसने एक विशेष समूह और बहुत-सी चीज़ों को स्थानच्युत कर दिया होता जो सब चीज़ें भागवत 'कर्म' का अंग होती हैं (क्योंकि वास्तव में देखा जाये तो प्रत्येक चीज़ दिव्य 'कर्म' का, सम्पूर्ण सृष्टि का, सम्पूर्ण विश्व का एक अंग होती है): सम्पूर्ण का एक भाग पीछे छूट गया होता।

लोग हमेशा पूछते हैं, "परन्तु भगवान् यदि सर्वशक्तिमान् हैं, तो इसका क्या कारण है कि परिस्थितियाँ अभी तक परिवर्तित नहीं हुई हैं?" बस, यही कारण है।

और इस बात पर ध्यान दो कि तुम्हारी यह भावना कि क्या होना चाहिये वह जो होगा उससे इतनी अनन्ततः भिन्न है कि, इसी तथ्य के कारण, यदि तुम अत्यन्त सम्भवनीय पूर्ण रूप से भी देखने की कोशिश करो फिर भी तुम विश्व का इतना विशाल अंश पीछे छोड़ दोगे कि तुम्हारी उपलब्धि लगभग सीधी रेखा जैसी उपलब्धि होगी, और हर हालत में, इतनी छोटी, इतनी संकीर्ण होगी कि विश्व का महत्तर भाग अपरिवर्तित रह जायेगा।

और यदि तुम्हारे अन्दर सम्पूर्ण को देखने की बहुत विशाल दृष्टि भी हो, यदि तुम किसी अधिक पूर्ण वस्तु की भी कल्पना कर सको और जो पथ तैयार है उस पर—क्योंकि जैसे सत्ताओं के साथ होता है वैसे ही पथों के विषय में भी होता है, कुछ तैयार होते हैं—आगे बढ़ सको और तुम्हारे अन्दर दूसरों के लिए प्रतीक्षा करने का धैर्य न हो, अर्थात्, यदि तुम ऐसी चीज़ संसिद्ध करना चाहो जो संसार की वर्तमान स्थिति के मुक़ाबले यथार्थ 'सत्य' के बहुत निकट हो तो क्या घटित होगा? एक सुनिश्चित एकता में अव्यवस्था पैदा हो जायेगी, और न केवल सामञ्जस्य बल्कि सन्तुलन भी भंग हो जायेगा, क्योंकि सृष्टि का एक समूचा भाग ही ऐसा रह जायेगा जो अनुसरण नहीं कर सकेगा। और भगवान् की पूर्ण उपलब्धि के स्थान पर तुम्हें एक क्षुद्र, स्थानिक, अत्यल्प उपलब्धि होगी, और अन्त में जो कुछ सम्पन्न होना चाहिये उसका कुछ भी अंश सम्पन्न नहीं होगा।

परिणामतः, जो सत्य तुमने देखा है वह यदि तुरन्त संसिद्ध न हो तो तुम्हें अधीर नहीं होना चाहिये, निराश, अवसन्न, निरुत्साहित नहीं होना चाहिये। स्वभावतः, यदि तुमसे कोई भूल हो जाये तो हृदय के टूट जाने या दुःखी होने या निराश होने का कोई प्रश्न नहीं है, क्योंकि प्रत्येक भूल सुधारी जा सकती है; जिस क्षण तुमने यह जान लिया कि यह भूल है, उसी क्षण से अपने अन्दर कार्य करने का, प्रगति करने और बहुत प्रसन्न होने का सुअवसर प्राप्त है! परन्तु वह स्थिति तब अत्यधिक गभीर और जीतने में अत्यधिक कठिन होती है जब तुम कोई सच्ची, पूर्णतः, मूलतः सच्ची वस्तु देख लेते हो, और विश्व की अवस्था ऐसी होती है कि वह सत्य अभी अपनी संसिद्धि के लिए परिपक्व नहीं होता। मैं यह नहीं कहती कि ऐसा बहुतों के साथ घटित होता है, पर शायद तुम्हारे साथ घटित हो, और उस समय तुम्हें महान् धैर्य रखना होगा, बड़ी समझदारी से काम लेना होगा और अपने-आपसे कहना होगा, "यह सत्य तो था, पर यह पूर्ण रूप से सत्य नहीं था," अर्थात्, यह अन्य सभी सत्यों के साथ सुसमञ्जस सत्य नहीं था और सबसे बढ़ कर, इसका वर्तमान सम्भावनाओं के साथ मेल नहीं था; हमने इसे बहुत शीघ्र संसिद्ध करने की कोशिश की थी, और चूँकि हमने अत्यन्त शीघ्र कोशिश की, इसीलिए यह सिद्ध नहीं हो सका। परन्तु यह मत कहो कि वह मिथ्या था, क्योंकि वह सिद्ध नहीं हुआ; बस,

यह कहो कि उसका अभी समय नहीं आया था, तुम बस यही कह सकते हो—तुमने जो देखा था वह सत्य था, लेकिन उसका समय नहीं हुआ था। और फिर, बहुत धैर्य और लगन के साथ, तुम्हें अपने छोटे-से सत्य को उस समय तक सुरक्षित रखना चाहिये जब उसे संसिद्ध करना सम्भव होगा।

अन्तिम विजय उसे ही मिलती है जो अत्यन्त धैर्यवान होता है।

"तुम कहते हो, 'मैं अपना संकल्प भगवान् को देता हूँ... । 'भागवत संकल्प' उसे मेरे लिए क्रियान्वित करे।' तुम्हारे संकल्प को भी अनवरत कार्य जारी रखना होगा, किसी विशेष कर्म का चुनाव करते हुए अथवा किसी विशेष वस्तु की माँग करते हुए नहीं, बल्कि एक ऐसी तीव्र अभीप्सा के रूप में जो प्राप्तव्य लक्ष्य पर केन्द्रित हो।"

('प्रश्न और उत्तर', २१ अप्रैल १९२९)

और बस यहीं हमें समस्या का समाधान मिल जाता है। तुम प्रत्येक मुहूर्त अपने संकल्प को एक अभीप्सा के रूप में अर्पित कर सकते हो जो बहुत सरल ढंग से, ठीक यह नहीं कि "हे प्रभु! तेरी इच्छा पूर्ण हो," बल्कि यह रूप लेती है कि "ऐसी कृपा कर कि मैं यथासम्भव अच्छे-से-अच्छे रूप में उस चीज़ को सम्पन्न करूँ जो सर्वोत्तम हो।"

हो सकता है कि तुम्हें प्रत्येक क्षण यह मालूम न हो कि सर्वोत्तम वस्तु क्या है या उसे कैसे करना चाहिये, पर तुम अपनी इच्छा को भगवान् के हाथों में सौंप सकते हो जिससे कि सर्वोत्तम सम्भवनीय, सर्वोत्तम सम्भाव्य वस्तु सम्पन्न हो सके। तुम देखोगे कि इसके अद्‌भुत परिणाम होंगे। तुम सचेतनता, सच्चाई और लगन के साथ इसे करो, और तुम स्वयं को विराट् पगों से आगे बढ़ते हुए पाओगे। यह ऐसी ही बात है, है न? मनुष्य को अपनी आत्मा के समस्त आवेग के साथ, अपने संकल्प के समस्त बल-सामर्थ्य के साथ कार्य करना चाहिये; प्रत्येक मुहूर्त अधिक-से-अधिक सम्भव, अधिक-से-अधिक सम्भव कार्य करो। दूसरे लोग जो कुछ करते हैं उससे तुम्हारा कोई सरोकार नहीं—यह ऐसी चीज़ है जिसे मैं चाहे जितनी बार दोहराऊँ कम ही रहेगी।

कभी मत कहो कि "फ़लाँ आदमी यह नहीं करता," "फ़लाँ आदमी

तो कुछ और ही चीज़ करता है," "लोग तो वही करते हैं जो हमें नहीं करना चाहिये"—**इन सब बातों से तुम्हारा कोई सरोकार नहीं**। तुम इस पृथ्वी पर, एक भौतिक शरीर में, एक सुनिश्चित उद्देश्य से लाये गये हो और वह उद्देश्य है इस शरीर को जितना सम्भव हो उतना अधिक सचेतन बनाना, इसे भगवान् का अत्यन्त पूर्ण और अत्यन्त सचेतन यन्त्र बनाना। भगवान् ने तुम्हें चेतना के सभी क्षेत्रों में—मानसिक, प्राणिक और भौतिक क्षेत्र में—'वे' तुमसे जो कुछ आशा करते हैं उसके अनुपात में योग्यता और साधन की एक विशेष मात्रा प्रदान की है, और 'वे' जो कुछ तुमसे आशा रखते हैं उसी के अनुपात में तुम्हारे चारों ओर की समस्त परिस्थितियाँ भी व्यवस्थित हैं, और जो लोग तुमसे यह कहते हैं, "मेरा जीवन भयावह है, मैं संसार में अत्यन्त दयनीय जीवन यापन करता हूँ," वे मूढ़मति हैं! प्रत्येक व्यक्ति का जीवन ऐसा है जो उसके सर्वांगपूर्ण विकास के उपयुक्त है, प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे अनुभव प्राप्त होते हैं जो उसके सर्वांगपूर्ण विकास में उसे सहायता देते हैं, और प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख जो कठिनाइयाँ आती हैं वे भी ऐसी हैं जो उसे उसकी पूर्ण उपलब्धि में सहायता देती हैं।

यदि तुम अपनी ओर सावधानी के साथ दृष्टिपात करो तो देखोगे कि तुम सर्वदा ही अपने अन्दर उस गुण के विपरीत वस्तु को वहन करते हो जिसे तुम्हें उपलब्ध करना है (यहाँ मैं "गुण" शब्द का व्यवहार उसके विशालतम और उच्चतम अर्थ में कर रही हूँ)। तुम्हारा एक विशेष लक्ष्य है, एक विशेष मिशन है, एक विशेष उपलब्धि है जो तुम्हारी एकदम अपनी है, प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिगत रूप से ऐसा ही है, और तुम अपने अन्दर अपनी उपलब्धि को पूर्ण बनाने के लिए आवश्यक सभी कठिनाइयों को वहन करते हो। सर्वदा ही तुम यह देखोगे कि तुम्हारे अन्दर अन्धकार और प्रकाश समान-समान हैं: तुममें एक योग्यता है, तुममें उस योग्यता का अभाव भी है। परन्तु तुम यदि अपने अन्दर एक बहुत काला छिद्र, बहुत घना अन्धकार देखो तो यह निश्चित रूप से जानो कि तुम्हारे अन्दर कहीं पर एक महान् प्रकाश भी है। अब यह तुम्हारा काम है कि तुम यह जानो कि एक का उपयोग दूसरे की उपलब्धि के लिए किस प्रकार किया जाये।

यह एक ऐसा तथ्य है जिसकी चर्चा कम ही होती है, पर जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। और तुम यदि सावधानीपूर्वक निरीक्षण करो तो तुम देखोगे

कि प्रत्येक व्यक्ति के साथ सर्वदा यही बात होती है। यह चीज़ हमें उन वक्तव्यों की ओर ले जाती है जो विरोधाभासपूर्ण होते हैं पर होते हैं एकदम सत्य; उदाहरणार्थ, बड़े-से-बड़ा चोर बड़े-से-बड़ा ईमानदार आदमी हो सकता है (यह बात, निस्सन्देह, तुम्हें चोरी करने का प्रोत्साहन देने के लिए नहीं कही जा रही है!) और बड़े-से-बड़ा झूठा अत्यन्त सत्यवादी व्यक्ति बन सकता है। अतएव, तुम यदि अपने अन्दर बहुत बड़ी दुर्बलता देखो फिर भी हताश मत होओ, क्योंकि सम्भवतः वह महत्तम दिव्य शक्ति का ही चिह्न हो। यह न कहो कि "मैं ऐसा हूँ, अन्य प्रकार का नहीं बन सकता।" यह सच नहीं है। तुम ऐसे इसलिए हो क्योंकि, निश्चित रूप में, तुम्हें उसके विपरीत बनना होगा। और तुम्हारी सभी कठिनाइयाँ ठीक इसलिए हैं कि तुम उन्हें, वे जिन सत्यों को छिपाये हुए हैं, उनमें रूपान्तरित कर सको।

एक बार जब तुम यह बात समझ जाओ तो तुम्हारी बहुत सारी दुश्चिन्ताएँ समाप्त हो जाती हैं और तुम बहुत सुखी, बहुत ही सुखी हो जाते हो। जब मनुष्य देखता है कि उसमें कोई बहुत काला छिद्र है तो वह कहता है, "यह सूचित करता है कि मैं बहुत ऊँचा उठ सकता हूँ," यदि गर्त बहुत गहरा है तो "मैं बड़ी ऊँचाई तक ऊपर चढ़ सकता हूँ।" यही बात विश्वव्यापी दृष्टि से भी सही है; यदि तुम लोगों के लिए इतनी सुपरिचित हिन्दू परिभाषा का प्रयोग किया जाये तो कहा जा सकता है कि सबसे बड़े असुर ही सबसे बड़े देवता ('ज्योति' की सबसे बड़ी सत्ताएँ) हैं। और जिस दिन ये असुर रूपान्तरित हो जायेंगे, वे सृष्टि की सर्वोच्च सत्ताएँ बन जायेंगे। यह बात तुम्हें "आसुरिक" बनने का प्रोत्साहन देने के लिए नहीं कही जा रही है, समझे न, बल्कि बात ऐसी ही है—यह चीज़ तुम्हारे मनों को थोड़ा विस्तारित करेगी और तुम्हें भले और बुरे की उन विरोधी भावनाओं से मुक्त होने में सहायता करेगी, क्योंकि यदि तुम उसी श्रेणी में निवास करो तो तुम्हारे लिए कोई आशा नहीं है।

यदि संसार अपने मूल रूप में उससे विपरीत न होता जैसा कि वह बन गया है तो फिर कोई आशा ही न रह जाती। क्योंकि छिद्र इतना काला और इतना गहरा है, और अचेतनता इतनी पूर्ण है कि यदि यह सम्पूर्ण चैतन्य का चिह्न न होता तो फिर और कुछ करने को न रह जाता, बस हमें अपनी गठरी बाँध कर यहाँ से रवाना ही हो जाना होता। शंकर-सदृश

लोगों ने, जिन्होंने अपनी नाक की नोक से बहुत अधिक दूर तक नहीं देखा, उन्होंने यह कहा कि संसार में रहने का कष्ट उठाना किसी काम का नहीं है, क्योंकि यह एकदम असम्भव है, यह कहीं अधिक अच्छा है कि एक माया समझकर इसके साथ व्यवहार किया जाये और यहाँ से निकल जाया जाये, इसके साथ कुछ भी नहीं किया जा सकता। परन्तु, इसके विपरीत, मैं तुमसे कहती हूँ कि चूँकि यह जगत् बहुत बुरा, बहुत अन्धकारपूर्ण, बहुत कुत्सित, बहुत अचेतन, दुःख-कष्ट और विपदाओं से भरा है, इसी कारण यह सर्वोच्च 'सौन्दर्य', परम 'ज्योति', परात्पर 'चैतन्य' और 'परमानन्द' बन सकता है।

"यदि तुम जाग्रत् रहो, यदि तुम्हारा ध्यान सजग हो, तो तुम निश्चय ही इस बात का अन्तर्ज्ञान प्राप्त करोगे कि क्या करना चाहिये, और तुम्हें तुरत करना प्रारम्भ कर देना चाहिये।"

('प्रश्न और उत्तर', २१ अप्रैल १९२९)

ठीक कुछ क्षण पहले मैंने जब तुमसे कहा था कि तुम्हें सर्वोत्तम सम्भवनीय करने के, प्रत्येक मुहूर्त यथासम्भव सर्वोत्तम वस्तु करने के पूरे उत्साह के साथ अभीप्सा करनी चाहिये तो तुम मुझसे पूछ सकते थे, "यह सब तो बहुत ठीक है। परन्तु इसे कैसे जाना जाये?" हाँ, इसे जानना आवश्यक नहीं है! यदि तुम सच्चाई के साथ यह मनोभाव ग्रहण करो तो तुम्हें हर मुहूर्त यह मालूम होगा कि तुम्हें क्या करना चाहिये, और यही चीज़ है जो अत्यन्त अद्‌भुत है! तुम्हारी सच्चाई के अनुपात में, तुम्हारा अन्तर्ज्ञान अधिकाधिक यथार्थ और अधिकाधिक सही होता जाता है।

"केवल तुम्हें याद रखना होगा कि समर्पण करने का अर्थ है तुम्हारे कर्म का जो कुछ भी परिणाम हो उसे स्वीकार करना, यद्यपि परिणाम तुम्हारी आशा से बिलकुल भिन्न ही हुआ हो। दूसरी ओर, यदि तुम्हारा समर्पण निष्क्रिय हो तो तुम कुछ भी नहीं करोगे और कोई प्रयत्न नहीं करोगे; तुम बस सो जाओगे और किसी चमत्कार की प्रतीक्षा करोगे।

"यह जानने के लिए कि तुम्हारा संकल्प या तुम्हारी इच्छा 'भागवत संकल्प' के साथ मेल खाती है या नहीं, तुम्हें ध्यानपूर्वक देखना चाहिये कि तुम्हें कोई उत्तर मिलता है या नहीं मिलता, तुम समर्थन अनुभव करते हो या विरोध, और वह अपने मन या प्राण या शरीर से नहीं, बल्कि उस वस्तु से जो सर्वदा तुम्हारी आन्तर सत्ता में, तुम्हारे हृदय की गहराई में विद्यमान होती है।"

('प्रश्न और उत्तर', २१ अप्रैल १९२९)

यह सदा एक ही वस्तु होती है, यह हमारा वह परदा है जिसके सामने से हमें यह जानने के लिए प्रत्येक चीज़ को गुज़ारना होगा कि हमसे उसे स्वीकार करने या अस्वीकार करने के लिए कहा जा रहा है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ११४-१२१

... एकमात्र उपचार है चुपचाप रहना, अपने अन्दर सच्चाई के साथ यह जानने के लिए देखना कि गड़बड़ कहाँ है और साहस के साथ उसे ठीक करने के लिए काम में जुट जाना।

अगर तुम्हारा प्रयास सच्चा, निष्कपट हो तो भागवत परम चेतना हमेशा तुम्हें सहायता देने के लिए तैयार होगी, तुम्हारा प्रयास जितना अधिक सच्चा होगा, भागवत परम चेतना उतनी ही अधिक सहायता और सहयोग देगी।

—श्रीमाँ

कार्य में कठिनाइयाँ

आज सवेरे मैं पाँच मिनट काम करके ही थक गया। काम था बस फ़र्नीचर पर पॉलिश करना!

सभी शारीरिक कामों में कई बार शुरू में थकान आती ही है, लेकिन धीरे-धीरे शरीर को उसका अभ्यास हो जाता है और वह मज़बूत हो जाता है। फिर भी, यदि तुम सचमुच थकान का अनुभव करते हो तो तुम्हें काम बन्द करके आराम करना चाहिये।

थके बिना काम करने का सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि चाहे जो भी काम हो उसे भगवान् के अर्पण कर दो और तुम्हें जिस सहारे की ज़रूरत है उसे भगवान् में ही पाओ—क्योंकि भगवान् की शक्ति अपार है और 'उन्हें' जो कुछ भी सच्चाई के साथ अर्पित किया जाये 'वे' हमेशा उसका उत्तर देते हैं।

हाँ, तो जब तुम यह अनुभव करो कि तुम्हारे अन्दर और तुम्हारे द्वारा भगवान् की शक्ति ने काम किया है तो अपनी सच्चाई से तुम जानो कि श्रेय 'उनको' है तुम्हें नहीं। अतः गर्व करने के लिए कोई कारण नहीं रहता।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ३२२-२३

मुझे काफ़ी समय से लग रहा है कि मुझे अपने बाहरी क्रिया-कलाप सीमित कर देने चाहियें और अपने-आपको मौन कार्य में लगाना चाहिये जिसमें बहुत दौड़-भाग न करनी पड़े।

मुझे आन्तरिक संकट का सामना करना पड़ रहा है। मेरा जीवन लक्ष्यहीन होता जा रहा है। बार-बार आने वाला एक स्वप्न मुझे मेरी आन्तरिक अस्थिरता के बारे में चेतावनी दे रहा है। मेरी बड़ी आवश्यकता यह है कि आन्तरिक सन्तुलन और स्थिरता प्राप्त करूँ। अन्धकार और घोर तमस् घटने चाहियें।

अगर श्रीमाँ स्वीकृति दें तो मैं अपने विभाग के काम से अलग हटना चाहूँगा। फिर भी मैं करूँगा वही जिसके लिए श्रीमाँ आदेश

दें। कृपया मार्ग दिखलाइये।

अगर तुम विभाग को छोड़ दोगे तो काम नष्ट हो जायेगा! जैसे ही मुझे कुछ समय मिलेगा मैं तुम्हें सवेरे के समय कुछ देर के लिए बुलाऊँगी और तब हम इस विषय पर बातचीत करेंगे।

मैं जितना अधिक बढ़ती हूँ उतना ही जानती जाती हूँ कि कार्य के द्वारा ही श्रीअरविन्द का पूर्णयोग **अच्छे-से-अच्छी तरह किया जाता है**।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. ३२५-३२६

कठिनाइयाँ हमेशा किसी-न-किसी प्रतिरोध के कारण आती हैं, सत्ता का कोई भाग या उसके कुछ भाग अपने ऊपर रखे गये शक्ति, चेतना और प्रकाश को ग्रहण करने से इन्कार करते हैं और भागवत प्रभाव के विरुद्ध विद्रोह करते हैं। ऐसा बहुत विरल होता है कि मनुष्य इन कठिनाइयों में किसी-न-किसी का सामना किये बिना पूरी तरह से 'भागवत इच्छा' के प्रति समर्पण कर दे। लेकिन अपनी अभीप्सा को स्थिर बनाये रखना और अपने-आपको पूरी सच्ची निष्कपटता के साथ देखना सभी बाधाओं पर विजय पाने का निश्चित उपाय है।

परिस्थितियाँ हमेशा छिपी हुई दुर्बलताओं को प्रकट करने के लिए आती हैं ताकि उन्हें जीता जा सके।

आघात और परीक्षाएँ हमेशा भागवत कृपा के रूप में हमें अपनी सत्ता में वे बिन्दु दिखाने आती हैं जहाँ हमारे अन्दर कमी है और जिन गतिविधियों में हम अपनी मानसिक सत्ता और प्राणिक सत्ता की चिल्लपों सुन कर अपनी अन्तरात्मा की ओर पीठ कर लेते हैं।

अगर हम इन आध्यात्मिक आघातों को उचित नम्रता के साथ स्वीकारना जानें तो हम निश्चय ही एक छलाँग में काफ़ी दूरी पार कर लेंगे।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. २२४, २२५

हम साधना क्यों करते हैं

मधुर माँ, यहाँ लिखा है : "इस मुक्ति, पूर्णता, समग्रता की खोज भी हमारे अपने लिए नहीं, भगवान् के लिए होनी चाहिये।" लेकिन क्या हम अपने लिए साधना नहीं करते?

वे ठीक इसी चीज़ पर ज़ोर दे रहे हैं। यह सिर्फ़ इसी बात पर ज़ोर देने के लिए है। इसका मतलब है कि यह समस्त पूर्णता जिसे हम प्राप्त करने वाले हैं, किसी व्यक्तिगत या स्वार्थपूर्ण उद्देश्य के लिए नहीं है, यह भगवान् को अभिव्यक्त करने के लिए, उनकी सेवा में निवेदित की जाती है। हम इस विकास की खोज व्यक्तिगत पूर्णता के स्वार्थपूर्ण इरादे से नहीं करते; हम यह खोज इसलिए करते हैं क्योंकि भगवान् का 'कार्य' पूरा करना है।

लेकिन हम यह भागवत 'कार्य' करते ही क्यों हैं? अपने-आपको...

नहीं, नहीं, हर्गिज़ नहीं! हम इसलिए करते हैं क्योंकि यह भगवान् की इच्छा है। यह व्यक्तिगत कारण से हर्गिज़ नहीं है, ऐसा नहीं होना चाहिये। हम यह इसलिए करते हैं क्योंकि यह भगवान् की इच्छा है और यह भगवान् का कार्य है।

जब तक निजी अभीप्सा या कामना, एक स्वार्थपूर्ण इच्छा उसमें मिलती रहें वे हमेशा एक मिश्रण पैदा करती हैं और यथार्थ रूप में भागवत इच्छा की अभिव्यक्ति नहीं होतीं। महत्त्वपूर्ण चीज़ बस एक ही होनी चाहिये, वह है भगवान्, उनकी इच्छा, उनकी अभिव्यक्ति, उनकी अभिव्यञ्जना। हम यहाँ पर उसी के लिए हैं, हम वही हैं, और कुछ भी नहीं। और जब तक स्व की, अहं की, व्यक्ति की भावना आती रहे, तो, यह इस बात का प्रमाण है कि तुम अभी तक वह नहीं हो जो तुम्हे होना चाहिये, बस। मैं यह नहीं कहती कि यह रातोरात हो सकता है, लेकिन वस्तुतः सत्य यही है।

यह है क्योंकि इस क्षेत्र में, आध्यात्मिक क्षेत्र में, बहुत अधिक लोग ऐसे होते हैं (मैं कह सकती हूँ कि बहुसंख्यक लोग हैं जो आध्यात्मिक जीवन को अपनाते और योग करते हैं), इनमें से बहुत अधिक लोग इसे निजी

कारणों से अपनाते हैं, सब तरह के व्यक्तिगत कारणों से अपनाते हैं : कुछ इसलिए कि वे जीवन से उकता गये हैं, कुछ इसलिए कि वे दुःखी हैं, कुछ ऐसे भी हैं जो ज़्यादा जानना चाहते हैं, कुछ इसलिए कि वे आध्यात्मिक दृष्टि से महान् बनना चाहते हैं, कुछ इसलिए कि वे ऐसी चीज़ें सीखना चाहते हैं जिन्हें वे दूसरों को सिखा सकें; वस्तुतः योग-साधना करने के लिए हज़ारों व्यक्तिगत कारण होते हैं। लेकिन अपनी सारी पवित्रता और निरन्तरता में यह सरल-सा तथ्य कि तुम अपने-आपको भगवान् को दे दो ताकि भगवान् तुम्हें लेकर अपनी इच्छा के अनुसार गढ़ सकें; हाँ तो, इसे करने वाले बहुत नहीं हैं, पर फिर भी वास्तविक सत्य यही है; और इसके साथ तुम सीधे लक्ष्य की ओर जाते हो और कभी भूल करने का भय नहीं रहता। अन्य सभी हेतु हमेशा मिश्रित होते हैं, अहं से दूषित होते हैं; और स्वभावतः वे तुम्हें लक्ष्य से बहुत दूर, इधर-उधर ले जाते हैं।

पर इस प्रकार की अनुभूति कि तुम्हारे जीवन का बस, एकमात्र हेतु, एकमात्र लक्ष्य, एकमात्र अभिप्राय है भगवान् के प्रति पूरा-पूरा, सम्पूर्ण, समग्र, इस हद तक समर्पण कि तुम अपने-आपको उनसे अलग न जान सको, पूरी तरह से, सम्पूर्ण भाव से, समग्र रूप से, सर्वभावेन वही बन जाओ, किसी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया के हस्तक्षेप के बिना वही बन जाओ —यही आदर्श मनोवृत्ति है; और इसके अतिरिक्त, यही एक चीज़ है जो तुम्हारे लिए जीवन और कार्य में आगे बढ़ना सम्भव बनाती है। तब तुम हर चीज से सुरक्षित होगे और अपने-आपसे सुरक्षित होगे—यह "अपने-आप" ही तुम्हारे लिए सबसे बड़ा संकट है—अपने-आपसे बढ़ कर और कोई संकट नहीं है (यहाँ "अपने-आप" से मेरा मतलब अहंकारमय स्व से है)।

वहाँ श्रीअरविन्द का यही मतलब था, और कुछ नहीं...

माताजी, अभी आपने कहा कि हमें सब कुछ भगवान् के लिए करना चाहिये।

हाँ।

लेकिन भगवान् इस अव्यवस्था के बीच धरती पर अपने-आपको

क्यों अभिव्यक्त करना चाहते हैं?

क्योंकि उन्होंने धरती को किसी और हेतु से नहीं, इसी उद्देश्य से बनाया है; धरती स्वयं भगवान् ही है लेकिन है विकृत रूप में और वे उसे फिर से उसके सत्य में स्थापित करना चाहते हैं। धरती 'उनसे' पृथक् और परायी वस्तु नहीं है। यह भगवान् का ही एक विकार है जिसे फिर से वही बन जाना चाहिये जो वह सार तत्त्व में थी, यानी, भगवान् बन जाना है।

तो फिर वे हमारे लिए अजनबी क्यों हैं?

लेकिन, मेरे बच्चे, वे अजनबी नहीं हैं। तुम कल्पना करते हो कि वे अजनबी हैं, लेकिन वे अजनबी नहीं हैं, बिलकुल नहीं। वे तुम्हारी सत्ता के सार तत्त्व हैं—पराये बिलकुल नहीं हैं। तुम उन्हें भले न जानते हो, पर वे अजनबी नहीं हैं; वे तुम्हारी सत्ता का सार तत्त्व हैं। भगवान् के बिना तुम्हारा अस्तित्व ही न होगा। भगवान् के बिना तुम एक सेकेण्ड के दस लाखवें हिस्से के लिए भी न रह सकोगे। केवल, चूँकि तुम एक मिथ्या भ्रान्ति में और विकृति में रहते हो, इसलिए, तुम सचेतन नहीं हो। तुम अपने बारे में सचेतन नहीं हो, तुम किसी ऐसी चीज़ के बारे में सचेतन हो जिसे तुम अपना स्व समझते हो, लेकिन वह तुम नहीं हो।

तब मैं क्या हूँ, मधुर माँ?

भगवान्!

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ.१८४-१८७

भाग २

कर्मयोग का सम्पूर्ण रहस्य

समग्र योग के सम्पूर्ण तथा अन्तिम लक्ष्य में **सम्पूर्ण सत्ता का एक उच्चतर आध्यात्मिक चेतना तथा एक विशालतर दिव्य सत्ता में रूपान्तरण**[१] मुख्य तथा अनिवार्य तत्त्व के रूप में शामिल किया गया है। हमारे संकल्प तथा कर्म को, हमारे ज्ञान, हमारे चिन्तन, हमारी भावना, हमारे प्राण को, हमारी आत्मा तथा प्रकृति के समस्त भागों को भगवान् की खोज करनी होगी, असीम में प्रवेश करना होगा, शाश्वत के साथ संयुक्त होना होगा।

परन्तु, मनुष्य की वर्तमान प्रकृति सीमित, विभाजित, असमान है —उसके लिए अपनी सत्ता के प्रबलतम भाग में एकाग्र होना तथा अपनी प्रकृति के अनुसार एक निश्चित दिशा में प्रगति करना सबसे आसान है। केवल दुर्लभ व्यक्तियों में ही भागवत असीमता के सागर में एक बड़ी सीधी छलाँग लगाने की शक्ति होती है। इसलिए कुछ लोगों को आरम्भ-बिन्दु के रूप में अपने अन्दर आत्मा के शाश्वत सत्य को पाने के लिए विचार के केन्द्रीकरण या ध्यान या मन की एकाग्रता को चुनना चाहिये। अन्य लोग अधिक आसानी से अपने हृदय में एकाग्रचित्त होकर वहाँ भगवान् या शाश्वत से मिल सकते हैं; फिर भी कुछ अन्य लोगों के लिए जो मुख्य रूप से गतिशील तथा सक्रिय होते हैं, सबसे अच्छा होगा अपने-आपको संकल्प में केन्द्रित करना और कर्म के माध्यम से अपनी सत्ता को विशाल बनाना। ये लोग आत्मा तथा सबकी उद्गम शक्ति की अनन्तता में अपने संकल्प को समर्पित कर उनके साथ संयुक्त हो सकते हैं। अपने अन्दर छिपे भगवान् के द्वारा अपने कर्मों में मार्गदर्शन प्राप्त कर सकते हैं। या वैश्व कर्म के प्रभु को अपने विचार, अपनी भावना, अपने कर्म का स्वामी तथा अपनी समस्त ऊर्जाओं का प्रेरक मान कर उनके प्रति समर्पित हो सकते हैं। सत्ता की इस विशालता द्वारा निःस्वार्थ तथा विश्वव्यापक बन कर वे कर्म के माध्यम

[१] सम्पादक द्वारा अनेक स्थानों पर मोटे अक्षरों का प्रयोग कर शब्दों पर ज़ोर डाला गया है।

से आध्यात्मिक स्तर की प्रथम पूर्णता की सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं।

किन्तु मार्ग का आरम्भ-बिन्दु कुछ भी हो, इसे अन्त में एक बृहत्तर राज्य में विस्तारित होना चाहिये; समग्र ज्ञान, भावना, गतिशील क्रिया के संकल्प को सत्ता तथा सम्पूर्ण प्रकृति की पूर्णता में परिणत होना चाहिये। SABCL खण्ड २०, पृ. २६५

कर्मयोग के पथ का उद्देश्य होता है, प्रत्येक मानव गतिविधि को परम संकल्प के प्रति निवेदित कर देना। इसका आरम्भ होता है अपने कर्मों के लिए समस्त अहंकारजन्य उद्देश्य तथा अपने रोचक उद्देश्य के लिए या सांसारिक परिणाम के लिए कर्मों के अनुसरण या प्रयास के त्याग से। इस त्याग द्वारा मन तथा संकल्प इतने शुद्ध हो जाते हैं कि हम इस बात से सचेतन हो जाते हैं कि महान् वैश्व ऊर्जा ही सभी क्रियाओं की वास्तविक कर्ता है तथा उस ऊर्जा के प्रभु उनके शासक और निर्देशक हैं तथा व्यक्ति केवल एक मुखौटा है, एक बहाना, एक यन्त्र या अधिक सकारात्मक रूप से कहें तो वह कर्म तथा दृश्यप्रपञ्चीय सम्बन्ध का एक सचेतन केन्द्र है। कर्म का चुनाव तथा निर्देशन अधिक-से-अधिक सचेतन रूप से इस परम संकल्प और इस वैश्व ऊर्जा पर छोड़ दिया जाता है। उसी 'तत्' को अन्ततः हमारे कर्म तथा हमारे कर्मों के परिणाम अर्पित कर दिये जाते हैं। SABCL खण्ड २०, पृ. ३४

हमारे अज्ञ व्यक्तिगत संकल्प का एक महत्तर दिव्य संकल्प या उच्चतम शिखरों पर महानतम परम संकल्प के प्रति क्रमिक समर्पण तथा इसका उनमें विलयन ही **कर्मयोग का सम्पूर्ण रहस्य है**। ऐसी परिस्थितियाँ केवल उनमें उत्पन्न करना जिनमें यह बृहत् तथा सुखद तादात्म्य सम्भव होता है तथा ऐसी रूपरेखाएँ तैयार करना जिनका अन्त तक हम अनुसरण कर सकें —**इस अनुशासन का सारा गहनतर प्रयोजन है**। पहली शर्त है व्यक्तिगत प्राणिक कामना का बहिष्कार क्योंकि यदि कामना हस्तक्षेप करती है तब परम भागवत संकल्प के साथ समस्त सामञ्जस्य असम्भव हो जाता है। यदि हम उसे ग्रहण भी करें, तब हम इसके कार्यान्वयन को विकृत और इसके गत्यात्मक आवेग को विरूपित कर देंगे। समस्त कामना के त्याग के

लिए हमारे संकल्प से कर्मफल, पुरस्कार तथा सफलता का आग्रह छोड़ना होगा तथा कर्म के प्रति समस्त प्राणिक आसक्ति को ही हमें अपनी प्रकृति से हटा देना होगा, क्योंकि आसक्ति इसे हमारा अपना बना देती है और तब यह भगवान् का नहीं रह जाता। अहंकार का बहिष्कार दूसरी शर्त है, न केवल राजसिक तथा तामसिक अहंकारों का जो कामना के चारों ओर लिपटे रहते हैं, वरन् सात्त्विक अहंकार का भी जो कर्ता के रूप में 'मैं' के विचार में शरण ले लेता है।

CWSA खण्ड १२, पृ. ३५१

सबसे पहले उत्सर्ग, उसके बाद समर्पण और मानव व्यक्तिगत संकल्प की अधीनस्थता, फिर एक महत्तर दिव्य या महानतम परम संकल्प में इसका विलयन ही कर्मयोग के अभिप्राय का केन्द्रीय रहस्य तथा मर्म है। किन्तु हमारी मानसिक चेतना द्वारा अपनी तुच्छ मानव सीमाओं में आबद्ध होने के कारण इसे पूरी तरह नहीं किया जा सकता। हमारे योग को हमें इसे छोड़ने में तथा एक ऐसी बृहत्तर चेतना में प्रवेश करने में मदद करनी होगी जो ज्ञान की एक सत्यतर दीप्ति से ज्योतित हो, एक प्रबलतर अमोघ शक्ति से सुसज्जित हो, उस विशालतर आनन्द के प्रति उद्घाटित हो जिसमें हमारी तुच्छ मानव पीड़ा और प्रहर्ष सदा के लिए डूब जायें। फिर भी, मानव चेतना की सीमाओं में जो भी किया जा सकता है वह भी महान् मुक्ति लाता है।

CWSA खण्ड १२, पृ. ३५४ **श्रीअरविन्द**

अपनी सभी गतिविधियों में संकल्प के पूर्ण समर्पण के माध्यम से भागवत उपस्थिति तथा शक्ति के साथ अपनी आत्मा का एकत्व स्थापित करना कर्मयोग के पथिक की उच्च अभीप्सा होती है।

CWSA खण्ड १२, पृ. ३४९ **श्रीअरविन्द**

यह कर्मयोग है

हमारे अपने अन्तर्निष्ठ प्रभु, हमारे चहुँ ओर व्याप्त वैश्व प्रभु तथा हमारे ऊपर स्थित परात्पर प्रभु के साथ घनिष्ठ एकत्व तथा गहरे सम्पर्क में रह कर कर्म करना, बन्दी तथा पृथक्कारी मानव मन में अब और बन्द नहीं रहना, इसके अज्ञ आदेशों तथा संकीर्ण सुझावों का ग़ुलाम की तरह अब और पालन नहीं करना—यह कर्मयोग है।

एक दिव्य आदेश, एक शाश्वत 'संकल्प', एक परात्पर तथा वैश्व प्रेरणा की आज्ञा से कर्म करना, अहंकार, आवश्यकता, आवेग तथा कामना के कोड़ों के भय से भाग-दौड़ नहीं करना, मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक प्राथमिकताओं के अंकुश से भयभीत न होना बल्कि केवल भगवान् द्वारा, केवल उच्चतम सत्य द्वारा ही प्रेरित होना—यह कर्मयोग है।

मानव अज्ञान में अब और अधिक नहीं बल्कि दिव्य ज्ञान में रहना और कर्म करना, व्यक्तिगत प्रकृति तथा वैश्व शक्तियों के प्रति सचेतन रहना तथा एक परात्पर शासन के प्रति प्रत्युत्तरदायी होना—यह कर्मयोग है।

एक ऐसी दिव्य, असीम तथा ज्योतिर्मय वैश्व चेतना में निवास करना, बने रहना तथा कर्म करना जो वैश्व से भी विशालतर चेतना के प्रति उद्घाटित हो, अब और अधिक पुरानी संकीर्णता तथा अन्धकार में न टटोलना, न ठोकर खाना—यह कर्मयोग है।

CWSA खण्ड १२, पृ. ३५३

अपने निजी संकल्प और कामना की अपेक्षा शास्त्र के अनुसार कर्म कर, जिससे तू अपने अन्दर के क्षुधातुर को वश में करने के लिए अधिक प्रबल बन सके। किन्तु शास्त्र की अपेक्षा भगवान् के अनुसार कर्म कर जिससे तू उसकी पराकाष्ठा तक पहुँच सके जो विधान और सीमा से अत्यन्त परे है।

CWSA खण्ड १२, पृ. ४७२ श्रीअरविन्द

कर्म का बन्धन : कैसे मुक्त हों इससे

... कर्मयोग में पहले हमें कर्म के बन्धन को शिथिल करना है। हमें इसे ढीला करने का वहाँ प्रयास करना होगा जहाँ यह केन्द्रीय रूप से बँधा हुआ है, कामना में तथा अहंकार में; अन्यथा हम केवल इसके छुटपुट रेशों को ही काट पायेंगे, अपने बन्धन के केन्द्र को। इस अज्ञानी तथा विभाजित प्रकृति की हमारी अधीनता की ये दो गाँठें हैं—कामना तथा अहंभाव।...

कर्म के क्षेत्र में कामना अनेक रूप ग्रहण करती है, किन्तु उन सबमें सबसे शक्तिशाली है, कर्मफल के लिए प्राणिक सत्ता की लालसा या खोज। जिस कर्मफल का हमें लोभ रहता है, हो सकता है कि वह आन्तरिक सुख का पुरस्कार हो। यह हमारी पसन्द के कुछ विचार या प्रिय कामना का निष्पादन हो सकता है या अहम्मन्य भावनाओं की तुष्टि या फिर हमारी उच्चतम आशाओं तथा महत्त्वाकांक्षाओं की सफलता का गर्व हो सकता है। अथवा यह एक बाहरी पारितोषिक हो सकता है, पूर्णतः भौतिक पारिश्रमिक —सम्पत्ति, पद, सम्मान, विजय, सौभाग्य या प्राणिक अथवा भौतिक कामना की कोई पूर्ति। किन्तु ये सब-के-सब एकसमान प्रलोभन हैं जिनके द्वारा अहंकार हमें अपने वश में रखता है। हमेशा ये तुष्टीकरण हमें स्वामित्व के भाव तथा स्वाधीनता के विचार से मोहित करते या बहकाते हैं, जब कि वास्तव में हम एक अन्धी कामना की कुछ स्थूल या सूक्ष्म, कुछ उदार या अधम शक्ति से अभिभूत, नियन्त्रित, परिचालित या प्रेरित रहते हैं। इसलिए *गीता* द्वारा स्थापित कर्म का प्रथम नियम यह है कि किसी भी फल की कामना से रहित होकर कर्म किया जाना चाहिये, निष्काम कर्म।

देखने में यह कितना सरल नियम लगता है, लेकिन इसे पूरी सच्चाई तथा मुक्तिदायिनी पूर्णता के साथ कार्यान्वित करना कितना कठिन है! अपने कर्म के अधिकतर भाग में हम इस सिद्धान्त को न के बराबर लागू करते हैं, और तब भी बहुधा कामना के सामान्य सिद्धान्त के एक प्रकार के सन्तुलन के रूप में और उस अत्याचारी आवेग की उग्र क्रिया को कम करने के लिए। यदि हम परिष्कृत तथा अनुशासित अहंकार से काम करते हैं, जो हमारे नैतिक बोध के लिए अत्यधिक प्रघातक तथा दूसरों के लिए अत्यधिक पाशविक और अपमानजनक नहीं होता, तो हम सन्तुष्ट

हो जाते हैं और इसे हम सबसे अच्छी स्थिति मानते हैं। और हम अपने आंशिक आत्मानुशासन को विविध नाम और रूप दे देते हैं; हम कर्तव्य-बोध, सिद्धान्त के प्रति दृढ़ निष्ठा, समतापूर्वक सहनशक्ति अथवा धार्मिक त्यागभाव, भागवत संकल्प के प्रति शान्त या आनन्दमय समर्पण इत्यादि के द्वारा स्वयं को अभ्यस्त करते रहते हैं। किन्तु *गीता* का अभिप्राय इन चीज़ों से नहीं है, यद्यपि वे अपने स्थान में उपयोगी हैं। इसका लक्ष्य कुछ ऐसी चीज़ है जो निरपेक्ष है, पूर्ण है, अनम्य है, एक घुमाव है, एक ऐसी मनोवृत्ति है जो आत्मा के सम्पूर्ण सन्तुलन को परिवर्तित कर देगी। **प्राणिक आवेग पर मानसिक नियन्त्रण इसका नियम नहीं है बल्कि वह है एक मृत्युञ्जयी आत्मा की सुदृढ़, सबल अटलता।**

सभी परिणामों, प्रतिक्रियाओं तथा घटनाओं के प्रति मन तथा हृदय का पूर्ण समत्व ही इसकी परीक्षा है। चाहे सौभाग्य हो या दुर्भाग्य, आदर हो या अनादर, यश हो या अपयश, विजय या पराजय, सुखद घटना हो या दुःखद घटना, यदि इनमें न केवल हम अविचलित रहें बल्कि अछूते भी रहें; भावनाओं में, स्नायविक प्रतिक्रियाओं में, मानसिक दृष्टिकोण में मुक्त रहें, हमारी प्रकृति के किसी भी बिन्दु में तनिक भी विक्षुब्धता या कम्पन न हो; तब हम पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं जिसकी ओर *गीता* का संकेत है, किन्तु, अन्यथा नहीं। **छोटी-से-छोटी** प्रतिक्रिया भी इस बात का प्रमाण है कि अनुशासन अपूर्ण है और यह कि हमारा कुछ भाग अज्ञान तथा बन्धन को अपना नियम मान कर स्वीकारता है और पुरानी प्रकृति से अभी तक चिपका हुआ है। हमारी आत्म-विजय केवल आंशिक रूप से सम्पादित की गयी है। यह अभी तक हमारी प्रकृति की भूमि के कुछ क्षेत्र या भाग या लघु स्थल में अपूर्ण या अवास्तविक है। और अपूर्णता का वह छोटा कंकड़ योग की सम्पूर्ण उपलब्धि को व्यर्थ कर सकता है!

SABCL खण्ड २०, पृ. ९४-९६ **श्रीअरविन्द**

हमारे कर्म की प्रेरक शक्ति

... साधारणतः मनुष्य इसलिए कर्म करता है क्योंकि उसमें कामना होती है अथवा वह एक मानसिक, प्राणिक या भौतिक अभाव या आवश्यकता अनुभव करता है। वह शरीर की आवश्यकताओं द्वारा, धन की, सम्मान, यश की लालसा द्वारा या मन अथवा हृदय के व्यक्तिगत सन्तोष की ललक या अधिकार या सुख की लिप्सा द्वारा हाँका जाता है। अथवा वह नैतिक आवश्यकता या कम-से-कम अपने विचारों या आदर्शों या अपने संकल्प या अपनी पार्टी या अपने राष्ट्र या अपने देवताओं को विश्व में प्रबल बनाने की आवश्यकता या इच्छा से अधिकृत कर लिया जाता है और इधर-उधर धकेला जाता है। यदि इन कामनाओं में से कोई भी या कोई और कामना हमारे कर्म की प्रेरक नहीं है तब ऐसा लगेगा मानों समस्त उद्दीपक या प्रेरक शक्ति समाप्त हो गयी है, और कर्म ही निश्चित रूप से बन्द हो जायेगा। *गीता* दिव्य जीवन के अपने तीसरे महान् रहस्य के साथ उत्तर देती है। समस्त कर्म अधिक-से-अधिक भगवतोन्मुख तथा अन्त में भगवान् द्वारा अधिकृत चेतना में ही किया जाना चाहिये। हमारे कर्मों को भगवान् को अर्पित एक यज्ञ होना चाहिये और अन्त में हमें अपने मन, संकल्प, हृदय, संवेदन, प्राण तथा शरीर—यानी अपनी समस्त सत्ता के प्रभु के प्रति समर्पण को भागवत प्रेम तथा भागवत सेवा की एकमात्र प्रेरणा बनाना होगा। प्रेरक शक्ति तथा कर्मों की प्रकृति का यह रूपान्तरण ही वास्तव में *गीता* का उत्कृष्ट विचार है। यह इसके कर्म, प्रेम तथा ज्ञान के अद्वितीय समन्वयन का आधार है। अन्त में कामना नहीं, बल्कि शाश्वत का ही सचेतन रूप से अनुभूत संकल्प हमारे कर्म का एकमात्र प्रेरक तथा इसकी पहल शक्ति का एकमात्र प्रवर्तक रह जाता है।

समानता, कर्मफल के लिए समस्त कामना का त्याग और हमारी प्रकृति तथा समस्त प्रकृति के परम प्रभु को समर्पित यज्ञ के रूप में किया गया कर्म,—ये हैं *गीता* के कर्मयोग-मार्ग में भगवान् की ओर जाने के तीन प्रथम प्रवेश द्वार।

SABCL खण्ड २०, पृ. ९६-९७ **श्रीअरविन्द**

प्रभु ही हर चीज़ को सत्ता की गहराइयों से गति देते हैं, उनकी इच्छा निदेशन करती है, उनकी शक्ति कार्य करती है।

—श्रीमाँ

संक्षेप में, यही हमसे अपेक्षा की जाती है

प्रत्येक क्षण और हमारी सत्ता की प्रत्येक गति में यह संकल्प होना चाहिये कि यह शाश्वत के प्रति एक सतत और निवेदित आत्मदान है। हमारी समस्त क्रियाएँ—तुच्छतम, अत्यन्त साधारण और नगण्य से लेकर महानतम तथा सर्वथा असाधारण और उदात्त क्रियाएँ—समर्पित कर्म के रूप में की जानी चाहियें। हमारी व्यष्टीकृत प्रकृति को आन्तरिक तथा बाह्य गति की एक ऐसी एकाकी चेतना में निवास करना चाहिये जो हमसे परे और हमारे अहं से महत्तर "किसी चीज़" के प्रति समर्पित है। इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि उपहार क्या है और हमारे द्वारा किसे भेंट किया जाता है, **उस कर्म के पीछे यह चेतना होनी चाहिये** कि हम इसे सभी प्राणियों में विद्यमान एकमात्र दिव्य सत्ता को ही भेंट दे रहे हैं। हमारी साधारण-से-साधारण तथा स्थूल-से-स्थूल भौतिक क्रियाओं में भी यही उदात्त भावना होनी चाहिये। जब हम भोजन करते हैं तब हमें इस बात के प्रति सचेतन होना चाहिये कि हम अपने अन्दर उसी दिव्य उपस्थिति को अपना भोजन निवेदित कर रहे हैं। इसे मन्दिर में एक पावन अर्पण का रूप ले लेना चाहिये तथा मात्र भौतिक आवश्यकता या आत्म-तुष्टि का बोध हमसे निकल जाना चाहिये। किसी भी महान् श्रमसाध्य उपक्रम में, किसी भी उच्च कोटि के अनुशासन में, किसी भी कठिन या उदात्त उद्यम में, चाहे वह अपने लिए किया जाये या दूसरों के लिए या सम्पूर्ण राष्ट्र या जाति के लिए, उसके पीछे कार्यरत चेतना को हमें जाति के, अपने-आपके तथा दूसरों के विचार तक ही सीमित नहीं रखना चाहिये। जो कुछ भी हम करें उसे हमें सचेतन रूप से कर्म-यज्ञ के रूप में, या तो कर्म के माध्यम से अथवा सीधे, एकमात्र प्रभु को ही अर्पित करना चाहिये। तब वह भागवत अन्तर्वासी जो इन आकृतियों के पीछे छिपा था, **अब छिपा न रहेगा बल्कि हमारी आत्मा, हमारे मन, हमारे संवेदन में सदा उपस्थित रहने लगेगा।** अपने कर्मों की कार्यप्रणाली तथा परिणाम उसी एकमात्र सत्ता के हाथों में हमें यह अनुभव करते हुए सौंप देना होगा कि वह दिव्य उपस्थिति अनन्त और सर्वोच्च है और केवल उन्हीं के द्वारा हमारा परिश्रम तथा हमारी अभीप्सा सम्भव हो पाती हैं। क्योंकि उन्हीं की सत्ता में समस्त घटनाएँ

घटती हैं। उन्हीं के लिए हमसे प्रकृति के द्वारा समस्त श्रम तथा अभीप्सा लिये जाते तथा उनकी वेदी पर अर्पित किये जाते हैं। उन चीज़ों में भी जिनमें प्रकृति स्वयं स्पष्ट रूप से कर्ता है और हम उसकी कार्यान्विति के तथा इसके पात्रों व आधारों के मात्र साक्षी हैं, वहाँ भी कार्य तथा कार्य के दिव्य प्रभु की वही सतत स्मृति तथा आग्रही चेतना बनी रहनी चाहिये। हमारे श्वास-प्रश्वास को भी, हमारे हृदय की धड़कनों को भी इस बात के प्रति सचेतन बनाया जा सकता है और अवश्य ही बनाना होगा कि वे ही हमारे अन्दर वैश्व यज्ञ की जीवन्त लय और ताल हैं।...

उसके बाद, इस योग का अभ्यास यह माँग करता है कि हमारे अन्दर एक केन्द्रीय मुक्तिदायक ज्ञान की स्मृति सतत बनी रहे तथा स्मृति को तीव्र बनाने के लिए कर्मों में इसे सतत सक्रिय मूर्त रूप देने की भी आवश्यकता है। सबमें एक ही आत्मा है, एकमेव प्रभु सब कुछ हैं, सब कुछ प्रभु में ही समाहित है, सब कुछ प्रभु ही हैं और विश्व में उनके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है,—यह विचार अथवा यह श्रद्धा ही सम्पूर्ण पृष्ठभूमि बनी रहती है जब तक कि यही कर्मयोग के साधक की चेतना का सम्पूर्ण उपादान न बन जाये। **एक स्मृति, इस प्रकार का एक आत्म-गत्यात्मक ध्यान** अन्त में एक ऐसी शक्ति की गहन तथा अविच्छिन्न अन्तर्दृष्टि में तथा एक ऐसी सुस्पष्ट सर्वसमावेशी चेतना में बदल जाता है जिसे हम बहुत सबलतापूर्वक याद करते हैं अथवा जिस पर निरन्तर रूप से ध्यान करते हैं। क्योंकि यह प्रत्येक क्षण समस्त सत्ता तथा संकल्प तथा कर्म के आदि स्रोत का सतत उल्लेख करता है और एक साथ ही वह तत्, जो समस्त विशिष्ट रूपों तथा प्रतीतियों को न केवल समाविष्ट करता है बल्कि उन्हें अतिक्रमित भी करता है, उनका कारण और धारणकर्ता बन जाता है। इस मार्ग में हम वैश्व आत्मा के कार्यों को सर्वत्र उतना ही स्पष्ट और ज्वलन्त रूप से देखते हैं जितना प्रत्यक्ष रूप से हम भौतिक आँखों से देखते हैं। यह मार्ग अन्त में अपने शिखरों पर वहाँ ले जाता है जहाँ हम अतिमानसिक या परात्पर की उपस्थिति में निरन्तर निवास करते हैं, सोचते हैं, संकल्प करते और कर्म करते हैं। हम जो कुछ देखते और सुनते हैं, हम जो कुछ स्पर्श करते और महसूस करते हैं, जिनके प्रति हम सचेतन हैं उन सभी चीज़ों को उसी तत् के रूप में हमें जानना और अनुभव करना चाहिये जिसकी

हम आराधना और सेवा करते हैं। इन सबको भागवत प्रतिमा में बदलना है, उसी ईश्वरत्व के निवास-स्थान के रूप में अनुभव करना है जो शाश्वत सर्वव्यापकता से आच्छादित है। अन्त में, यह कर्ममार्ग भागवत उपस्थिति, संकल्प तथा शक्ति के साथ घनिष्ठता के द्वारा ज्ञानमार्ग में परिणत हो जाता है जो उससे कहीं अधिक पूर्ण एवं समग्र होता है जिसे मात्र मानव बुद्धि रच सकती है या विचार-शक्ति जिसकी खोज कर सकती है।

अन्ततः, कर्मयज्ञ का यह योगाभ्यास हमें इस बात के लिए बाध्य करता है कि हम अहंकार के समस्त आन्तरिक आधारों को अपने मन, संकल्प तथा कर्मों से बाहर निकाल कर त्याग दें तथा अपनी प्रकृति से इसके बीज, इसकी उपस्थिति, इसके प्रभाव को जड़ से उखाड़ कर फेंक दें। यह सब भगवान् के लिए सम्पन्न करना होगा, यह सब भगवान् की ओर निर्देशित करना होगा। अपने लिए पृथक् अस्तित्व के रूप में हमें कुछ भी नहीं करना चाहिये, दूसरों के लिए भी चाहे वे पड़ोसी, मित्र, परिवार के सदस्य हों, या देश या मानवजाति या अन्य प्राणी हों उनके लिए भी मात्र इसलिए कि वे हमारे व्यक्तिगत जीवन, विचार तथा भावना से सम्बन्धित हैं या क्योंकि हमारा अहंकार उनके कल्याण में अधिक रुचि लेता है—हमें कुछ नहीं करना चाहिये। इस तरह करने और देखने से सभी कर्म और समस्त जीवन भगवान् के अपनी विराट् सृष्टि के असीम मन्दिर में एक दैनिक गत्यात्मक पूजा और सेवा बन जाते हैं। जीवन अधिक-से-अधिक व्यक्ति के अन्दर शाश्वत परात्पर के प्रति सतत आत्म-समर्पित शाश्वत का यज्ञ बनता जाता है।

SABCL खण्ड २०, पृ. १०२-१०५ **श्रीअरविन्द**

कर्मयोग एक प्रकार से भगवान् के त्रिविध सेतु-मार्ग का कठिनतम पक्ष है; फिर भी क्या यह, कम-से-कम इस भौतिक संसार में, सरलतम, विशालतम तथा सर्वाधिक आनन्ददायक भी नहीं है? क्योंकि प्रत्येक क्षण हम कर्मी भगवान् से टकराते हैं और सहस्रों दिव्य स्पर्शों के द्वारा उनकी सत्ता में वर्धित होते हैं।

CWSA खण्ड १२, पृ. ४७२ **श्रीअरविन्द**

अभीप्सुओं के लिए मार्गदर्शन

... तुम्हारा यह सन्देह कि क्या कर्म भागवत सिद्धि की ओर ले जा सकता है या तुम्हारा इस सम्भावना से कोरा इन्कार उनके अनुभव का खण्डन करता है जिन्होंने इस तथाकथित असम्भावना को उपलब्ध किया है। तुम कहते हो कि कर्म चेतना को नीचे ले आता है, तुम्हें आन्तरिक से बाह्य में ले आता है—हाँ, यदि तुम स्वयं को इसमें बहिर्मुखी बनाने की सहमति दो बजाय इसके कि अन्दर से कर्म करो; किन्तु हमें यही तो सीखना है कि हम बहिर्मुखी न बनें। विचार और संवेदन भी उसी प्रकार हमें बहिर्मुखी बना देते हैं। किन्तु यह विचार, संवेदन तथा कर्म को आन्तरिक चेतना से, वहाँ रहते हुए तथा शेष को यन्त्र बनाते हुए, दृढ़तापूर्वक जोड़ने का प्रश्न है। कठिन है? भक्ति भी आसान नहीं है तथा निर्वाण अधिकतर लोगों के लिए इन सबसे अधिक कठिन है।

मुझे नहीं मालूम कि क्यों तुम बीच में लोकोपकारवाद, सक्रियतावाद, मानवप्रेमवाली सेवा आदि को घसीट लाते हो। इनमें से कोई भी मेरे योग का अंग नहीं है, न ही कर्म की मेरी परिभाषा के साथ सामञ्जस्य में है... मैंने कभी नहीं सोचा कि राजनीति या दरिद्र को भोजनदान या सुन्दर काव्य-रचना का कर्म सीधा वैकुण्ठ या परम सत्य तक ले जायेगा। यदि ऐसा होता तो रमेश दत्त एक ओर तथा दूसरी ओर बोदलैर (Baudelaire) उच्चतम सत्य को सबसे पहले सिद्ध कर चुके होते और हम लोगों का वहाँ स्वागत करते। **स्वयं कार्य का रूप या केवल क्रियाशीलता नहीं, बल्कि कार्य के पीछे की चेतना तथा भगवतोन्मुख संकल्प ही कर्मयोग के सारतत्त्व हैं**। कर्म केवल कर्म के प्रभु के साथ मिलन के लिए आवश्यक माध्यम है, अज्ञान के संकल्प तथा शक्ति से प्रकाश के शुद्ध संकल्प तथा शक्ति की ओर जाने का मार्ग है।

SABCL खण्ड २३, पृ. ५२७

साधना का ऐसा कोई चरण नहीं है जिसमें कर्म असम्भव हों, मार्ग में कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ आधार न हो तथा कर्म को भगवान् पर एकाग्रता के साथ असंगत होने के कारण त्यागने की आवश्यकता पड़े।

आधार हमेशा है; आधार है भगवान् पर भरोसा, सत्ता, संकल्प, ऊर्जाओं का भगवान् के प्रति उद्घाटन तथा समर्पण। उस भावना से किये गये सभी कर्मों को साधना का साधन बनाया जा सकता है। कभी-कभी किसी व्यक्ति के लिए कुछ समय के लिए ध्यान में डूब जाना और तब तक कर्म को छोड़ देना या गौण रखना आवश्यक हो सकता है; लेकिन वह केवल किसी व्यक्ति-विशेष का मामला और एक अस्थायी एकान्तवास हो सकता है। इसके अतिरिक्त, कर्म के पूर्ण त्याग का तथा पूर्ण रूप से एकान्तवास का यदा-कदा ही परामर्श दिया जा सकता है। इससे एक अवाञ्छनीय एकपक्षीय अन्तर्दृष्टि की ऐसी अवस्था आ सकती है जिसमें व्यक्ति पूर्ण रूप से आत्मपरक अनुभवों के एक प्रकार के मध्यवर्ती लोक में निवास करता है, जहाँ न तो बाह्य वास्तविकता का और न ही उच्चतम सद्वस्तु का कोई दृढ़ आधार होता है। साथ ही, न वहाँ उच्चतम वास्तविकता तथा जीवन की बाहरी सिद्धि के बीच कोई दृढ़ कड़ी बनाने या उन्हें संयुक्त करने के लिए आत्मपरक अनुभव का सही उपयोग होता है।

इस योग में, रूपान्तरण में बाह्य चेतना को समाविष्ट करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—इस कार्य को ध्यान नहीं कर सकता। ध्यान केवल आन्तरिक सत्ता के साथ निपट सकता है। अतः, कर्म प्राथमिक महत्त्व का है—केवल इसे उचित मनोवृत्ति के साथ और उचित चेतना में किया जाना चाहिये... SABCL खण्ड २३, पृ. ५३१, ५३०

कर्म काफी सरलतर मार्ग है बशर्ते मन भगवान् को छोड़ कर केवल कर्म पर ही न टिका रहे। हमारा लक्ष्य भगवान् होने चाहियें, कर्म केवल एक साधन हो सकता है। काव्य आदि का उपयोग अपनी आन्तरिक सत्ता के साथ सम्पर्क बनाये रखने के लिए है जो अन्तरतम सत्ता के साथ सीधा सम्पर्क बनाने में सहायता करता है। परन्तु हमें वहीं नहीं रुक जाना चाहिये, हमें वास्तविक वस्तु तक पहुँचने के लिए आगे चलते जाना होगा। यदि कोई साहित्यिक व्यक्ति या कोई कवि या चित्रकार, जो वह अपने लिए उचित समझे बनना चाहे, तब उसमें यौगिक भावना नहीं रह जाती। इसीलिए मुझे कभी-कभी यह कहना पड़ता है कि हमारा काम है योगी बनना, न

केवल कवि, चित्रकार आदि।
SABCL खण्ड २३, पृ. ५३५-३६

ऐसा नहीं है कि जो तुम्हें पसन्द नहीं है वही तुम्हें करना है, बल्कि तुम्हें किसी चीज़ को नापसन्द करना बन्द करना होगा। **केवल वही करना जो तुम्हें पसन्द है, प्राण में लिप्त रहना है तथा अपनी प्रकृति पर उसका प्राबल्य बनाये रखना है**--क्योंकि अरूपान्तरित प्रकृति का यही सिद्धान्त है, अपनी रुचि तथा अरुचि से शासित होना। किसी काम को समत्व भाव से करना कर्मयोग का सिद्धान्त है और इसे आनन्द के साथ करना, क्योंकि यह श्रीमाँ के लिए किया जाता है—इस योग में यही सच्ची चैत्य और प्राणिक अवस्था है।

प्रत्येक कलाकार के अन्दर उसके प्राणिक-भौतिक भागों में सार्वजनिक व्यक्ति की कोई चीज़ होती है जो उसे श्रोता के प्रोत्साहन, सामाजिक प्रशंसा, गर्व की तृप्ति, सम्मान, यश के लिए लालायित बनाती है; (इसमें अपवाद विरले ही होते हैं)। यदि तुम योगी बनना चाहते हो तो इसे पूरी तरह समाप्त करना होगा,—तुम्हारी कला को तुम्हारे अहं की नहीं, किसी व्यक्ति या किसी चीज़ की नहीं, बल्कि केवल भगवान् की ही सेवा बनना होगा।
SABCL खण्ड २३, पृ. ६८०, ७९

कर्म करते समय भगवान् को कैसे याद रखें

साधना के विषय में जो कठिनाई तुम या कोई भी दूसरा साधक अनुभव करता है, वह वास्तव में ध्यान बनाम भक्ति बनाम कर्म का प्रश्न नहीं है। यह मनोवृत्ति अपनाने की कठिनाई है, दृष्टिकोण या तुम जो भी चाहो इसे कह सकते हो।

यदि तुम कर्म करते समय अब भी हमेशा भगवान् का स्मरण नहीं रख सकते तब इसमें बहुत हर्ज़ नहीं है। कर्म के आरम्भ में भगवान् को याद कर उन्हें समर्पित कर देना और अन्त में धन्यवाद ज्ञापन कर देना, अभी के लिए इतना काफ़ी होगा। अथवा अधिक-से-अधिक उस समय भी याद कर लेना चाहिये जब कर्म में ठहराव आ जाये। तुम्हारी पद्धति तो मुझे

कष्टदायक तथा कठिन प्रतीत होती है—ऐसा प्रतीत होता है कि तुम मन के एक ही भाग से स्मरण और कर्म करने का प्रयास करते हो। मुझे नहीं मालूम कि यह सम्भव हो सकता है। जब लोग कर्म करते समय निरन्तर स्मरण करते हैं (यह किया जा सकता है), तब यह सामान्यतः मन के पृष्ठभाग से किया जाता है या फिर क्रमशः दोहरे विचार की क्षमता अथवा दोहरी चेतना विकसित हो जाती है—एक सामने जो कार्य करती है और एक आन्तरिक जो साक्षी बनी रहती और स्मरण करती है। एक अन्य पद्धति भी है जो बहुत समय तक मेरी थी—एक ऐसी अवस्था जिसमें कर्म स्वतः व्यक्तिगत विचार या मानसिक क्रिया के बीच में आये बिना होता रहता है, जब कि चेतना भगवान् में नीरव बनी रहती है। यह चीज़ बहरहाल, प्रयास करने से उतनी नहीं आती जितनी एक अत्यन्त सरल सतत अभीप्सा तथा समर्पण के संकल्प के द्वारा आती है—अथवा चेतना की उस गति से आती है जो आन्तरिक सत्ता को बाह्य सत्ता से अलग कर देती है। कर्म करने के लिए एक महत्तर शक्ति के आवाहन-हित अभीप्सा तथा समर्पण का संकल्प करना एक ऐसी पद्धति है जो महान् परिणाम लाती है, यद्यपि कुछ लोगों में इसमें लम्बा समय लग जाता है। मन के प्रयास द्वारा हर चीज़ को करने के बदले पीछे की या ऊपर की शक्ति के द्वारा कार्य करवाने की कला जानना साधना का एक महान् रहस्य है। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि मन का प्रयास अनावश्यक है या निष्फल होता है—केवल यदि यह हर चीज़ अपने-आप करने का प्रयास करता है तब यह आध्यात्मिक व्यायामियों को छोड़ कर सबके लिए एक श्रमसाध्य प्रयास बन जाता है। मेरा तात्पर्य यह भी नहीं है कि दूसरी पद्धति वाञ्छनीय लघु-मार्ग है; परिणाम में अधिक समय लग सकता है, जैसा कि मैंने कहा है। साधना की प्रत्येक पद्धति में धैर्य और दृढ़ निश्चय अनिवार्य हैं।

शक्तिशालियों के लिए शक्ति तो ठीक ही है—किन्तु अभीप्सा तथा इसका प्रत्युत्तर देती हुई भागवत कृपा बिलकुल मिथक नहीं हैं; वे आध्यात्मिक जीवन के महान् सत्य हैं।

SABCL खण्ड २३, पृ. ५२९-३० **श्रीअरविन्द**

श्रीअरविन्द के मान्त्रिक वचन

यदि तुम दिव्य कर्मों के सच्चे कर्मी बनना चाहते हो तो तुम्हारा प्रथम लक्ष्य होना चाहिये, समस्त कामना तथा स्वाभिमानी अहंकार से पूर्णतः मुक्त हो जाना। तुम्हारे समस्त जीवन को सर्वोच्च प्रभु की आहुति और बलिदान बनना होगा। कर्म में तुम्हारा एकमात्र उद्देश्य होगा, भगवती माता की सेवा करना, उनकी शक्ति को ग्रहण करना, उनके संकल्प को चरितार्थ करना तथा उनके कर्मों में उनकी अभिव्यक्ति का यन्त्र बनना। तुम्हें भागवत चेतना में तब तक वर्धित होना होगा जब तक तुम्हारे संकल्प और उनके संकल्प के बीच कोई अन्तर न रह जाये, तुम्हारे अन्दर उनके आवेग के सिवा कोई और प्रेरणा न रह जाये, ऐसी कोई क्रिया न हो जो तुम्हारे अन्दर तथा तुम्हारे माध्यम से उनकी सचेतन क्रिया न हो।

जब तक तुम इस पूर्ण गत्यात्मक तादात्म्य को स्थापित करने में समर्थ न बन जाओ तब तक तुम्हें अपने-आपको एक ऐसी सशरीर आत्मा समझना है जो उनकी सेवा के लिए निर्मित की गयी है और जो उन्हीं के लिए सब कुछ करती है। यदि एक पृथक् कर्ता का भाव तुम्हारे अन्दर सबल है और यदि तुम अनुभव करते हो कि तुम्हीं कर्म करते हो, फिर भी उन्हीं के लिए कर्म किया जाना चाहिये। अहंकारजन्य चुनाव के समस्त महत्त्व को, व्यक्तिगत लाभ की सारी उत्कण्ठा को, स्वाभिमानी कामना की समस्त माँग को प्रकृति से उन्मूलित करना होगा। कर्मफल की कोई माँग नहीं होनी चाहिये, पुरस्कार की कोई चाह नहीं होनी चाहिये। तुम्हारे लिए एकमात्र कर्मफल होगा भगवती माता की प्रसन्नता और उनके कार्य की सिद्धि। तुम्हारा एकमात्र पुरस्कार होगा भागवत चेतना में एक सतत प्रगति, शान्ति, शक्ति तथा आनन्द। कर्म के माध्यम से सेवा का आनन्द तथा आन्तरिक विकास का आनन्द निस्स्वार्थ कार्यकर्ता के लिए पर्याप्त पारिश्रमिक है।

किन्तु एक समय ऐसा आयेगा जब तुम अधिक-से-अधिक यह अनुभव करोगे कि तुम कार्यकर्ता या कर्मी नहीं, बल्कि भगवान् की शक्ति के यन्त्र हो। क्योंकि पहले तुम्हारी भक्ति की शक्ति से भगवती माता के साथ तुम्हारा सम्पर्क इतना घनिष्ठ हो जायेगा कि तुम्हें किसी भी समय केवल एकाग्र होकर हर चीज़ उनके हाथों में सौंप देनी है और क्या काम करना है, कैसे

करना है तथा उसका क्या परिणाम होगा, इस सम्बन्ध में तुम्हें तत्काल उनका मार्गदर्शन, सीधा आदेश या प्रेरणा, निश्चित संकेत प्राप्त हो जायेगा। और तत्पश्चात् तुम अनुभव करोगे कि भगवती शक्ति न केवल प्रेरित और मार्गदर्शन करती है, बल्कि तुम्हारे कर्मों की पहल करती और उन्हें कार्यान्वित भी करती है। तुम्हारी सभी गतिविधियाँ उन्हीं के द्वारा आरम्भ की जाती हैं, तुम्हारी सभी शक्तियाँ उन्हीं की हैं। तुम्हारा मन, प्राण तथा शरीर उन्हीं की क्रिया के सचेतन तथा आनन्दयुक्त यन्त्र हैं, उनकी लीला के साधन तथा भौतिक जगत् में उनकी अभिव्यक्ति के साँचे हैं। इस तादात्म्य तथा निर्भरता की अपेक्षा और अधिक सुखद स्थिति और कोई नहीं हो सकती। क्योंकि यह क़दम तुम्हें अज्ञानजनित तनाव और कष्ट के जीवन की सीमा-रेखा से परे, तुम्हारी आध्यात्मिक सत्ता के सत्य में, उसकी गहरी शान्ति तथा उसके तीव्र आनन्द में ले जाता है।

जब तुम इस रूपान्तरण की प्रक्रिया में से गुज़र रहे होते हो तो यह पहले से भी अधिक अनिवार्य हो जाता है कि तुम अहंकार की विकृतियों के समस्त दोषों से स्वयं को मुक्त रखो। आत्म-समर्पण तथा त्याग की पवित्रता को कलंकित करने के लिए किसी कामना या आग्रह को न आने दो। कर्म या कर्मफल में आसक्ति नहीं रखनी होगी, कोई शर्त, शक्ति प्राप्त करने का कोई दावा, यन्त्र बनने का गर्व, दम्भ या घमण्ड—इन सबसे मुक्त रहना होगा। मन में या प्राण में या भौतिक भागों में ऐसा कोई तत्त्व न हो जो तुम्हारे अन्दर कार्यरत शक्तियों की महानता को उनका अपने व्यक्तिगत उपयोग तथा अपनी पृथक् सन्तुष्टि द्वारा विकृत कर दे। तुम्हारी श्रद्धा, तुम्हारी सच्चाई, तुम्हारी अभीप्सा की शुद्धता सम्पूर्ण हो तथा तुम्हारी सत्ता के सभी लोकों और स्तरों पर व्याप्त हो। तब प्रत्येक बाधक तत्त्व तथा विरूपक प्रभाव क्रमिक रूप से तुम्हारे स्वभाव से झड़ जायेगा।

इस पूर्णता की पराकाष्ठा तब आयेगी जब तुम भगवती माता के साथ पूर्णतया तदात्म हो जाओगे और यह अनुभव करोगे कि अब तुम कोई अन्य तथा पृथक् सत्ता, यन्त्र, सेवक या कर्मी नहीं हो बल्कि वास्तव में उन्हीं की चेतना तथा शक्ति के एक बालक तथा शाश्वत अंश हो। वे सदा तुम्हारे अन्दर निवास करेंगी तथा तुम उनके अन्दर रहोगे। यह तुम्हारा सतत, सरल और स्वाभाविक अनुभव होगा कि तुम्हारे समस्त विचार, तुम्हारी समस्त

दृष्टि और क्रिया, तुम्हारी साँस तथा गति तक उन्हीं से उद्‌भूत होती हैं और उन्हीं की हैं। तुम जानोगे, देखोगे तथा अनुभव करोगे कि तुम उन्हीं के द्वारा, उनके स्वयं के उपादान से निर्मित किये गये हो, लीला के लिए उनसे पृथक् कर दिये गये हो तथा फिर भी, सर्वदा उनके अन्दर सुरक्षित हो और तुम उनकी ही सत्ता की सत्ता, उनकी ही चेतना की चेतना, उनकी ही शक्ति की शक्ति और उनके ही आनन्द के आनन्द हो। जब यह अवस्था पूर्ण हो जाती है तथा उनकी अतिमानसिक ऊर्जाएँ मुक्त रूप से तुम्हें सञ्चालित कर सकती हैं, तब तुम भागवत कर्म में सिद्ध हो जाओगे। ज्ञान, संकल्प तथा कर्म सुनिश्चित, सरल, ज्योतिर्मय, सहज, दोषमुक्त हो जायेंगे तथा परम चेतना के प्रवाह, शाश्वत की एक दिव्य गति बन जायेंगे।

SABCL खण्ड २५, पृ. १५-१८ **श्रीअरविन्द**

इस सिद्धान्त का पालन करो

न केवल अपनी आन्तरिक एकाग्रता में बल्कि अपनी बाह्य क्रियाओं व गतिविधियों में भी तुम्हें उचित मनोवृत्ति अपनानी चाहिये। यदि तुम ऐसा करो और प्रत्येक चीज़ को श्रीमाँ के मार्गदर्शन में छोड़ दो तब तुम देखोगे कि कठिनाइयाँ कम होने लगी हैं, अधिक आसानी से समाप्त होने लगी हैं तथा चीज़ें धीरे-धीरे निर्विघ्न हो गयी हैं।

अपने कर्म में तथा क्रियाओं में तुम्हें वही करना चाहिये जो तुम अपनी एकाग्रता में करते हो। श्रीमाँ के प्रति उद्‌घाटित रहो, कर्मों को उनके मार्गदर्शन में छोड़ दो, शान्ति, अवलम्ब देने वाली शक्ति, सुरक्षा का आवाहन करो और वे प्रभावकारी रूप से कार्य कर सकें इसके लिए सभी अनुचित प्रभावों को—जो सम्भावित रूप से अनुचित, असावधान या अचेतन गतिविधियों के रूप में बाधक बन कर आ सकते हैं—अस्वीकार करो।

इस सिद्धान्त का पालन करो और तुम्हारी समस्त सत्ता शान्ति तथा आश्रयदायिनी शक्ति और प्रकाश में, एक ही नियम के अधीन एकत्व प्राप्त कर लेगी।

SABCL खण्ड २५, पृ. २०६ **श्रीअरविन्द**

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

अक्तूबर

१. प्राणिक आवेगों के सामने झुकना निश्चित रूप से उन्हें वश में करने का तरीक़ा नहीं है। तुम्हें अपने लिए एक अनुशासन बनाना चाहिये और अगर तुम प्राणिक दुर्भावना और मानसिक अवसादों से पिण्ड छुड़ाना चाहते हो तो हर हालत में उसे स्वयं पर लागू करना होगा। अनुशासन के बिना तुम जीवन में कुछ नहीं कर सकते और समस्त योग असम्भव हो जाता है।

२. श्रीमाँ के प्रति स्वयं को हमेशा खुला रखो, उन्हें हमेशा याद रखो तथा अन्य सभी प्रभावों को त्याग कर उनकी शक्ति को अपने अन्दर कार्य करने दो—यही योग का नियम है।

३. अध्ययन का महत्त्व तभी है जब तुम ठीक तरह से ज्ञान प्राप्त करने और मानसिक अनुशासन के लिए अध्ययन करो।

४. एक क्षण के लिए भी यह मत भूलो कि यह सब भगवान् ने अपने ही अन्दर से बनाया है। वे सब चीज़ों में उपस्थित ही नहीं हैं, बल्कि वे ही सब कुछ हैं। भेद मात्र अभिव्यक्ति और आविर्भाव में है। तुम यह भूल जाओ तो सब कुछ गँवा बैठते हो।

५. प्रगति का अन्त नहीं है—कहीं कोई अन्त नहीं है।

६. हम जो बन चुके हैं उसकी अपेक्षा हम जो बनना चाहते हैं उस पर अपनी एकाग्रता स्थिर करना हमारे लिए कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

७. मैं प्रस्ताव करती हूँ कि हम केवल वही करें जो ठीक और उचित हो, भविष्य के बारे में बहुत अधिक न सोचें, उसे भागवत कृपा की निगरानी में रहने दें।

८. हम प्रार्थना करते हैं कि भगवान् हमें हमेशा अधिकाधिक सिखाएँ, अधिकाधिक बोध दें, हमारे अज्ञान को छिन्न-भिन्न कर दें, हमारे मनों को प्रकाश दें।

९. विश्व के आश्चर्यों का कहीं अन्त नहीं है। हम अपने छोटे-से अहंकार

की सीमाओं से जितना अधिक मुक्त होते चलें, उतना ही अधिक ये आश्चर्य अपने-आपको हमारे सम्मुख प्रकट करेंगे।

१०. हमारी चेतना एक छोटी-सी चिड़िया की तरह है, उसे अपने पंखों का उपयोग करना सीखना चाहिये। बहुत ऊँचे उड़ो और तब तुम गहराइयों को खोज लोगे।

११. प्र. अपने-आपको भूल जाने का सबसे सरल मार्ग कौन-सा है।
उ. हमेशा ठीक चीज़, ठीक तरीक़े से, ठीक समय पर करो।

१२. अच्छा करने की कोशिश करो और यह कभी न भूलो कि भगवान् तुम्हें हर जगह देखते हैं।

१३. भलाई के प्यार के लिए भला करो, ईनाम के लिए नहीं। भला होने के आनन्द के लिए भले बनो, औरों की कृतज्ञता के लिए नहीं।

१४. ईर्ष्या, स्वार्थपूर्ण असन्तोष और आहत दर्प तुम्हें भागवत रक्षण से बाहर खींचता है, चेतना के द्वार को विरोधी आक्रमणों के लिए खोल देता है।

इन भ्रान्तिपूर्ण गतिविधियों को अपने अन्दर होने देने से इन्कार करके ही तुम विरोधी प्रभाव और उसके विपत्तिजनक परिणामों से छुटकारा पाने की आशा कर सकते हो।

१५. अगर तुम सचमुच कुछ भला करना चाहते हो तो सबसे अच्छी चीज़ जो तुम कर सकते हो वह यह है कि एक के बाद एक, पूरी सच्चाई के साथ अपने अन्दर विजय प्राप्त करो। इस तरह तुम संसार के लिए अपनी क्षमता के अनुसार अधिक-से-अधिक कर सकोगे।

१६. केवल अचञ्चलता और शान्ति में ही तुम जान सकते हो कि करने के लिए सबसे अच्छी चीज़ क्या है।

१७. उत्साह की क्षमता ऐसी चीज़ है जो तुम्हें अपने दीन, क्षुद्र, निम्न अहंकार से ऊपर उठा देती है।

१८. लापरवाही दुर्भावना का सबसे बुरा रूप है क्योंकि वह उस भागवत प्रेरणा तथा चेतना के प्रति समर्पण की अस्वीकृति है जो सतत सर्तकता की माँग करती है।

१९. पूर्णता के प्रति अभीप्सा सच्ची आध्यात्मिकता है।

२०. संसार में एक क्षण भी ऐसा नहीं होता जो कुछ नयी चीज़ नहीं लाता,

क्योंकि संसार निरन्तर बढ़ता जाता है। अगर मनुष्य इस विषय में सचेतन हो तो उसके लिए हमेशा सीखने-लायक़ कोई नयी चीज़ रहती ही है।

२१. तुम जगत् से भाग कर उसे नहीं बदल सकते। यहाँ काम करते हुए, नम्रता और विनय के साथ काम करते हुए उसे बदला जा सकता है, तुम्हारे हृदय में एक आग हो, ऐसी चीज़ हो जो आहुति की तरह जलती रहे।

२२. जो लोग सचमुच सशक्त, बलशाली होते हैं वे सर्वदा ही बहुत शान्त-स्थिर रहते हैं। दुर्बल ही उत्तेजित रहते हैं।

२३. अपनी समस्याओं को सच्चे हृदय के साथ भगवान् के हाथों में सौंप दो और वे तुम्हें सारी कठिनाइयों से उबार लेंगे।

२४. अपने सारे जीवन को अनुशासित करने के लिए प्रयत्न करने से पहले व्यक्ति को अपनी एक क्रिया को ही अनुशासन में रखने की कोशिश करनी चाहिये और तब तक करते रहनी चाहिये जब तक उसमें सफलता न प्राप्त न हो जाये।

२५. किसी कठिनाई को नयी प्रगति के अवसर में बदलना अच्छा है।

२६. मधुरता हृदय की गहराई में है। कड़वाहट भागवत प्रेम के सूर्य के आगे गल जाती है। सच्ची अभीप्सा से सारे दोष मिट जाते है।

२७. जब तुम कोई प्रगति करना चाहते हो तो जिस कठिनाई को तुम जीतना चाहते हो वह तुम्हारी चेतना में महत्त्व और तीव्रता में दसगुनी बढ़ जाती है। तुम्हें केवल डटे रहना है। बस इतना ही; और वह चली जायेगी।

२८. अग्निपरीक्षाएँ सबके लिए हैं। उनका सामना करने के तरीक़े में फ़र्क होता है। कुछ लोग मुस्कुराते और कुछ बात का बतंगड़ बनाते हैं।

२९. कभी किसी कठिनाई के बारे में मत सोचो—तुम उसे शक्ति देते हो।

३०. मैं उस दिन की राह देख रही हूँ जब व्यवस्था अव्यवस्था पर विजय पा लेगी और सामञ्जस्य अस्त-व्यस्तता का स्वामी होगा। मैं इस दिशा में किये गये हर प्रयास के पीछे हूँ।

३१. सरल और शान्त हृदय तथा स्थिर मन के साथ अपना काम जारी रखो। अभीप्सा आवश्यकता के अनुसार धीरे-धीरे आयेगी।

ध्यान

दिन में आधे घण्टे का ध्यान सम्भव होना चाहिये—यदि चेतना में केवल एकाग्रता की आदत डालनी हो, जो पहले तो कार्य करते समय कम बहिर्मुख बनने में मदद करेगी और, दूसरा, ऐसी ग्रहणशील प्रवृत्ति विकसित करेगी जिसका लाभ कार्य करते समय भी मिल सकता है।

SABCL खण्ड २४, पृ. १२७२ **श्रीअरविन्द**

एकाग्रता बहुत लाभदायक और आवश्यक है—हम जितना अधिक एकाग्र होते हैं (निस्सन्देह शरीर की क्षमता के अनुसार बिना तनाव के) उतनी ही योग की शक्ति बढ़ती है। परन्तु तुम्हें इस बात के लिए तैयार रहना होगा कि ध्यान में कभी-कभी सफलता नहीं मिलती, और तब तुम्हें इससे परेशान नहीं होना चाहिये—क्योंकि ध्यान की यह अस्थिरता प्रत्येक के साथ घटित होती है।

कभी-कभी हृदय में और कभी-कभी सिर के ऊपर एकाग्र होने में कोई हानि नहीं है। परन्तु दोनों में से किसी स्थान में एकाग्रता का अर्थ यह नहीं है कि किसी एक विशेष बिन्दु पर ध्यान को स्थिर रखा जाये; तुम्हें दोनों में से एक स्थान पर अपनी चेतना को स्थिर रखना है और वहाँ एकाग्रचित्त होना है, उस स्थान पर नहीं, बल्कि वहाँ भगवान् पर।

निश्चित रूप से यह बहुत अधिक अच्छा होगा यदि ध्यान के बाद कुछ समय के लिए शान्त और प्रकृतिस्थ रहा जाये। ध्यान को हलके-फुलके रूप में लेना भूल है—वैसा करने से हम ग्रहण नहीं कर पाते, या जो भी हमने ग्रहण किया हो वह, या उसका अधिकांश बिखर जाता है।

SABCL खण्ड २३, पृ. ७२९, ७२६, ७२८ **श्रीअरविन्द**

'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन'

नींद को सचेतन बनाना

ध्यान और कर्म में हमें बहुत-सी चीज़ें करनी होती हैं, लेकिन एक ज़रूरी बात है, नींद से पहले और नींद में ध्यान। तुम जानते हो, तुम्हारे सामने कोई समस्या है, तुम उसे लिये हुए ही सो जाते हो और सवेरे देखते हो कि समस्या हल हो गयी या कभी-कभी तुम सवेरे बहुत थके हुए उठते हो, तुम्हें ठीक नींद नहीं आयी क्योंकि तुमने सोने से पहले ध्यान करके अपने-आपको तैयार नहीं किया। यह ज़रूरी नहीं है कि सोने से पहले बैठ कर ध्यान किया जाये। तुम लेट कर भी कर सकते हो। यह बहुत सीधा-सादा ध्यान होता है। बिस्तर पर लेट जाओ, अगर तुम्हारा कोई इष्ट देवता है तो यही कल्पना करो कि तुम उसकी गोद में लेटे हुए हो क्योंकि ध्यान में तुम्हारी सारी चेतना केवल भगवान् पर केन्द्रित होनी चाहिये।

एक बार तुम्हारा भगवान् के साथ सम्पर्क हो जाये तो वे संसार में अपने काम के लिए तुम्हारा उपयोग करेंगे। तुम उनसे यह नहीं कह सकते कि मेरा उपयोग इस या उस काम के लिए किया जाये। तब तो तुम उन्हें अपना आदेश दे रहे होगे। अगर तुम चाहते हो कि वे अपनी पूर्ण महिमा के साथ तुम्हारे मन, प्राण और शरीर और दैनन्दिन जीवन में उतरें तो पहले तुम्हें अपने-आपको उनके प्रति पूरी तरह समर्पित करना होगा। अगर तुम चाहो कि वे केवल तुम्हें इस दिशा में चलायें, या तुम्हारी ऊर्जा को उस दिशा में चलायें तब तो तुम उनको सीमित कर रहे होगे, अपने जीवन और अपने क्रिया-कलाप को सीमित कर दोगे। अगर तुम सचमुच बिना किसी सीमा के कार्य करना चाहो तो तुम्हें अपने-आपको पूरी तरह समर्पित करना होगा। अगर तुम्हारे आगे कोई समस्या है तो उसे इस ध्यान के बाद उनके सम्मुख रख दो, यह उन्हें सौंप कर सो जाओ, फिर तुम देखोगे कि क्या होता है। मान लो तुम नींद में सचेतन होना चाहते हो तो तुम ऐसा कर सकते हो और साथ-ही-साथ अभीप्सा करो कि नींद तुम्हारे लिए आराम और विश्राम लेकर आये। तुम अपने जीवन का एक तिहाई हिस्सा, शायद सात-आठ घण्टे तो सोते ही हो। अगर तुम सोने से पहले

ध्यान करो तो देखोगे कि इससे परिणाम आता है।

सोने से पहले एक सबसे अच्छी चीज़ तुम यह कर सकते हो कि अपने स्वास्थ्य के लिए प्रार्थना करो क्योंकि योग में स्वास्थ्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। अधिकाधिक प्रगति के लिए तुम्हें अपने जीवन को लम्बा करना होगा अन्यथा प्रगति फिर से नये जन्म में शुरू होगी। मृत्यु और पुनर्जन्म के बीच के काल में कोई प्रगति नहीं होती। यदि तुम जीवन में अधिक-से-अधिक पाना चाहो, यदि तुम मानवजाति को अधिक-से-अधिक देना चाहो—तुम इसे जो कहना चाहो कह लो, उच्च स्तर पर दोनों एक हैं, या यदि तुम भगवान् को पाना और उनकी सेवा करना चाहते हो तो तुम्हें स्वस्थ जीवन बिताना और भागवत कार्य के लिए जितना ज़रूरी हो जीवन लम्बा करना चाहिये, उसे एक दिन भी छोटा करने की न सोचो।

हर क्षण प्रगति करने का अवसर होता है। तुम अपनी प्रगति को धीमा क्यों करना चाहते हो? भगवान् से अच्छा स्वास्थ्य या लम्बा आयुष्य माँगने में कोई हर्ज़ नहीं है। भगवान् से कोई चीज़ छिपाने की ज़रूरत नहीं है। "नहीं, नहीं, मैं उनसे भौतिक चीज़ें क्यों माँगूँ?" यह एक और तरह का अहंकार है। अगर यह तुम्हारे अन्दर हो तो मूर्खतापूर्ण है। वे सर्व-करुणा-सम्पन्न हैं, वे ही तुम्हारे सबसे निकट और सबसे अधिक प्रिय हैं। अगर तुम उनसे नहीं माँगोगे तो माँगोगे किससे? बहुत-से लोग हैं जो भगवान् से चीज़ों को छिपाते हैं; उनके अहंकार का कोई भाग मना करता है—नहीं, मैं भगवान् से कुछ नहीं माँगना चाहता, मानों इससे वे भगवान् की कुछ सहायता करते हैं! तुम्हारी कोई भी समस्या क्यों न हो, मान लो कि तुम्हारा कोई मित्र बीमार है—तो सबसे अच्छा उपाय यह है कि पूरी सच्चाई के साथ अपनी समस्या भगवान् के आगे रख दो। तो भगवान् या तो तुम्हारे मित्र को अच्छा कर देंगे या तुम्हारी दृष्टि को बदल देंगे। एक बार तुम्हारी दृष्टि बदल जाये तो तुम्हारे लिए समस्या का समाधान हो जाता है, हो सकता है कि भगवान् तुम्हें बतला दें कि यह बीमारी क्यों आयी है, वह क्यों ज़रूरी है। तुम्हारे लिए सारी समस्या का हल हो जाता है। यह निश्चित है।

जैसा कि मैंने कहा, नींद का दूसरा पक्ष है उसे सचेतन बनाना। शुरू-शुरू में, जब तुम सो कर उठो तो अपने रात के अनुभवों को लिख लो।

सोने से पहले और सवेरे जागने के बाद ध्यान करो और जो कुछ तुमने रात को सपने में देखा हो उसे लिख लो। पीछे की ओर से सोचना शुरू करो, अन्त में क्या हुआ, वहाँ से लेकर शुरू तक आओ—पहले से अन्त की ओर नहीं। कुछ अभ्यास के बाद तुम्हें याद आने लगेगा और तुम नींद में सचेतन होने लगोगे, अपने स्वप्नों के बारे में सचेतन होने लगोगे। इस प्रयास के द्वारा धीरे-धीरे तुम अपने व्यक्तित्व को ही बदल सकोगे।

(क्रमशः) —नवजातजी

श्रीमाँ के साथ रवीन्द्रजी का पत्र-व्यवहार

(रवीन्द्रजी ने गुरुकुल काँगड़ी से शिक्षा समाप्त करके श्रीअरविन्द के बड़े गुरुकुल में सन् १९३८ में २१ वर्ष की अवस्था में प्रवेश पाया था। २००१ में अपनी मृत्युपर्यन्त वे यहीं के अन्तेवासी रहे।)

मेरे एक भाई हैदराबाद में प्रोफ़ेसर हैं, उन्हें भगंदर (फ़िस्च्यूला) हो गया है। वे चाहते हैं कि मैं आयुर्वेद से उनकी चिकित्सा कर दूँ। रोगी को देखने की ज़रूरत नहीं है। मैं यहीं बैठा हुआ गुरुकुल से उनके लिए दवाई तैयार करवा कर भेज सकता हूँ जिससे मुझे दवाई के पैसों के अतिरिक्त अस्सी रुपये मिलेंगे। यदि आप मुझे उनसे दवाई के पैसे लेने की स्वीकृति दें तो स्वभावतः ये पैसे आपके पास ही जायेंगे अन्यथा कोई और ले लेगा।

तुम चाहो तो दवाई वहाँ से तैयार करवा सकते हो परन्तु मैं दाम के रूप में पैसे नहीं ले सकती। यहाँ जो भी धन आये, भेंट के रूप में आना चाहिये।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद।

१५ दिसम्बर १९३९

एक समय प. ले. भोजनालय की गाड़ी खींचा करता था और घर-घर भोजन पहुँचाता था, उसके कान में बात पड़ी कि किसी ने

उसके काम के बारे में माताजी से शिकायत की है। उसने माताजी से पूछा तो उत्तर मिला :

तुम्हारे गाड़ी के काम के बारे में मुझसे किसी ने कोई शिकायत नहीं की। विश्वास रखो, अगर मुझे तुम्हारे काम के बारे में तुमसे कुछ कहना होता तो मैं सीधा तुम्हें ही लिखती।

लेकिन तुम्हें औरों की भूलों और कमज़ोरियों के बारे में चिन्ता नहीं करनी चाहिये। एकमात्र ज़रूरी बात यह है कि लोगों की बातों पर विश्वास न करो, ख़ास तौर पर जब वे मेरे नाम से कुछ कहें।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद।

२० जुलाई १९४०

माताजी,

आप जानती ही हैं कि मुझे क्या हो गया है। कृपया बतलाइये कि ऐसी अवस्था में, जब मैं भीतरी और बाहरी संघर्ष में पड़ा हूँ, मुझे क्या करना चाहिये। काश! मैं उन लोगों के लिए सद्भावना रख सकता जो मेरी बाहरी तकलीफ़ों के लिए ज़िम्मेदार हैं, लेकिन मैं ऐसा कर नहीं पाता। कृपया, मुझे कुछ ऐसे सामान्य निर्देश दीजिये जो मेरी वर्तमान स्थिति में सहायक हो सकें। मैं इतना छुई-मुई हो गया हूँ कि ज़रा-सी चीज़ भी मुझे विचलित कर देती है।

ये प्राणिक विक्षोभ हैं जो साधना के दौरान अपने-आपको प्रकट करते हैं, इन्हें निकाल बाहर करना चाहिये। यह न मानना चाहिये कि ये स्वाभाविक गतिविधियाँ हैं जो औरों की ग़लत क्रियाओं द्वारा औचित्य पाती हैं और जब तक बाहरी कारण बने रहेंगे तब तक इनका रहना अवश्यम्भावी है। वास्तविक कारण भीतरी है और इसे केवल यौगिक तपस्या, चौकसी, प्राणिक गतिविधियों से निर्लिप्तता और शान्त किन्तु कठोर अस्वीकृति से ही दूर किया जा सकता है।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद। २६ जुलाई १९४०

प. ले. ने शिकायत की कि उसका मन ध्यान में नहीं लगता, अपने

काम से भी उसे असन्तोष था :

अगर बाहरी रूप से तुम्हें ध्यान में सफलता न भी मिले फिर भी ज़्यादा अच्छा यही है कि तुम ध्यान जारी रखो, अपनी निम्न प्रकृति के विरोध की अपेक्षा अधिक आग्रही बनो।

मैं तुम्हारे काम करने के तरीक़े से पूरी तरह से सन्तुष्ट हूँ और निश्चय ही यह तुम्हें मेरे अधिक नज़दीक आने में सहायता देगा।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद।

१३ सितम्बर १९४०

किसी विभाग में काम के समय बहुत बतरस बँटा करता था। माताजी ने एक सन्देश भेजा :

साधना के लिए और कार्य के लिए, हमेशा चुपचाप काम करना ज़्यादा अच्छा है।

१९४० के आरम्भ में

प. ले. को अपने काम से, अपने मनोभाव से और स्वयं अपने-आपसे बहुत असन्तोष था। उसने एक पत्र में यही रोना रोया तो श्रीअरविन्द का जवाब आया।

तुमने अपने पत्र में मन की जिस अवस्था का वर्णन किया है वह निश्चय ही उस तनाव के कारण होगी जो चैत्य की माताजी के आगे पूर्ण समर्पण करने की प्रबल इच्छा और किसी प्राणिक मन और सतही बुद्धि में बैठे अवरोध के बीच संघर्ष के कारण पैदा हुआ है। यह मन उस अड़चन का आत्म-निन्दा द्वारा समर्थन करता है (जो उतने अच्छे आधार पर नहीं होती जैसी कि उचित आत्म-परीक्षा होगी) और तुम जो कुछ भी करो उस पर प्रश्न करता है ताकि तुम दोष और ग़लत हेतु के सिवा कुछ न देख सको। इससे बेचैनी, सन्देह और तनाव पैदा होते हैं, तुम्हारी साधना में बाधा पड़ती है और चैत्य प्रेरणाओं की मुक्त क्रिया में बाधा पड़ती है।

तुम्हें अपना काम इस सरल विश्वास के साथ करना चाहिये कि माताजी उसे सराहती और स्वीकार करती हैं, और यह ऐसा ही है—क्योंकि तुम्हारा काम बहुत अच्छा और उनके लिए उपयोगी रहा है, चैत्य गतिविधि को सरल-सहज रूप में, बाहरी मन के किसी हस्तक्षेप के बिना कार्य में प्रकट होने दो। बहुत सम्भव है कि इससे तनाव ठीक हो जायेगा और तब तुम्हारी साधना शान्त-स्थिर प्रसन्नता के साथ आगे बढ़ सकेगी। उसे अपने सत्य और माताजी की प्रेमभरी स्वीकृति का विश्वास होगा।

६ दिसम्बर १९४३ —श्रीअरविन्द

माताजी का यह वाक्य 'प्रार्थना और ध्यान' तथा 'शिक्षा' नामक पुस्तकों के साथ एक अलग काग़ज़ पर लिखा हुआ है :

"इस किताब को तब तक न पढ़ो जब तक तुम्हारा इरादा इसे क्रिया में लाने का न हो।"

१९५२ में प. ले. को रोमान्तिका (खसरा) हो गयी थी। आश्रम में ऐसे रोगी को अलग रखा जाता है। वह हमेशा कहा करता था कि मुझे साधना में रस नहीं है, मैं केवल काम करने के लिए आया हूँ, माताजी ने उसे लिख भेजा :

मेरे आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं,

तुम्हें इस बीमारी को इस बात के चिह्न के रूप में लेना चाहिये कि तुम्हारे सभी विश्वासों के बावजूद—और शायद तुम्हारी प्रतिज्ञा के होते हुए भी—तुम्हें साधना करनी होगी और काम में अपने बाहरी उत्सर्ग के साथ-साथ गहरी समझ और मनोवैज्ञानिक रूपान्तर के आन्तरिक उत्सर्ग को भी जोड़ना होगा। इस एकान्तवास का इस प्रयोजन के लिए उपयोग करो।

मेरी सहायता और प्रेम तुम्हारे साथ हैं।

६ अप्रैल १९५२

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. ३००-३०४

लघु पुष्प की स्तुति-वन्दना

राजा-महाराजाओं की कहानियाँ पुराने जमाने से सुनते चले आये हैं हम। बच्चों को सीख देने का ज़रिया होती थीं ये। वैसे तो बच्चे, बूढ़े, जवान, सभी के पल्ले कुछ बाँध ही जाती थीं। ऐसी ही एक छोटी कहानी है यह भी—

एक राजकुमार अपने सुन्दर-सुखद बग़ीचे में टहल रहा था कि अचानक उसके अन्दर का दार्शनिक सिर उठा कर पूछ बैठा—"इतने जतन से पाल-पोस कर बड़े किये गये इस बाग़ के पेड़-पौधे क्या कुछ सेवाधर्म भी निभाते हैं या बस यूँ ही सजे-धजे खड़े दर्शकों की सराहना बटोरते रहते हैं...!" अन्दर के दार्शनिक का प्रश्न राजकुमार को भी जँचा। सच ही तो है, नन्दन-कानन से होड़ लेने वाला मेरा यह बग़ीचा लावण्य और सौन्दर्य बाँटने-बिखेरने से अधिक कुछ होना चाहिये। सेवा या उपयोगिता के तराज़ू पर यह तुल सकेगा क्या? राजकुमार पर उदासी फेरे देने लगी—इतनी मेहनत-मशक्कत का पूरा फ़ायदा मिल रहा है क्या मुझे और मेरी प्रजा को... इस उधेड़-बुन में पड़े राजकुमार ने देखा कि सारा बग़ीचा झूमने-लहलहाने लगा... मानों हर एक पेड़ उसके साथ बतियाने को उत्सुक हो!! उसके चेहरे पर मुस्कुराहट की धूप खिल उठी। सामने खड़े विराट् आम के पेड़ को सराह कर राजकुमार ने पूछा, "कहो मेरे विशाल बन्धो! मेरी प्रजा की क्या सेवा करते हो तुम?" पेड़ की पत्ती-पत्ती मुस्कुरा उठी। वृक्ष बोला, "मित्र राजकुमार, अचानक तुम्हारे मन में शक का यह बीज क्यों पनप उठा? तुम जानते हो, लोग जानते हैं कि मेरी कैरियाँ बच्चों को, स्त्रियों को ख़ूब लुभाती हैं, मेरे मीठे फलों की चर्चा घर-घर होती है, मेरी पत्तियों की बन्दनवारें हर शुभ-मांगलिक अवसर पर घर-द्वार को सजाती हैं, और मेरी मंजरियाँ, वाह, वाह! जब मैं मंजरियों से लद–फँद जाता हूँ तो लोग-बाग कहते हैं कि आम का पेड़ बौरा गया! सच, अपने ही फूलों की ख़ूशबू से मैं क्या, अग-जग मस्त हो जाता है, कामदेव भी तो इनके दीवाने हैं, उनके प्रेम के पाँच बाणों में मेरा भी पूरा योगदान रहता है! मेरे फल-फूल से लेकर पत्तियाँ तक लोगों की सेवा में प्रस्तुत रहती हैं और तुम पूछ रहे हो मेरे दोस्त कि मैं कौन-सी सेवा करता हूँ!" आम का पेड़

कुछ ठुनकता-सा बोला।

"क्षमा बन्धो! क्षमा।" राजकुमार हाथ जोड़ कर बोल उठा। "मैं जानता हूँ, तुम्हारा कितना अमूल्य योगदान है। मैं तो किसी के बहकावे में आकर तुमसे बेकार का सवाल पूछ बैठा था।" इतना कह राजकुमार ने अपने अन्दर से उचकते दार्शनिक को हलकी चपत लगा, बिठला दिया। लेकिन राजकुमार का सवाल तो आम के पास ही खड़ा बरगद का विशाल पेड़ सुन चुका था। अपनी दाढ़ी लहराते-लहराते बोल उठा—"मेरे प्यारे राजकुमार! शायद मुझसे भी तुम समान प्रश्न करना चाहो... है न? तो सुनो मित्र! मैं आम की तरह रसीले-स्वादिष्ट फल नहीं दे सकता, लेकिन मेरी अपनी ख़ूबी है। मेरी घनी छाँव में सैकड़ों पक्षी बसेरा करते हैं, अपनी मीठी आवाज़ में चहक-चहक कर धरती और आसमान को उमंग और उत्साह का, हर पल ख़ुश रहने का सन्देसा सुनाते हैं। गाँववालों के मवेशियों को, थक कर चूर राहगीरों को, मैं अपनी छाँह तले सुख-शीतलता का पाठ पढ़ाता हूँ। मेरी छाल से लेकर पत्ते तक, औषधि के रूप में प्रयुक्त होते हैं।"

राजकुमार अभिवादन में बरगद के वृक्ष के सामने झुक गया। उसके तने पर हाथ फेर कर बोला—"तात! अनेकानेक धन्यवाद आपका। आपकी मात्र उपस्थिति ही राज्य के लिए वरदान-स्वरूप है।"

बरगद के पास ही हरी-भरी दूब कुछ इठलाती, कुछ शरमाती-सी लहरा रही थी। राजकुमार ने झुक कर उसे सहलाया, वह सहमी, राजकुमार बोला, "बहना, तुम भी कुछ कहना चाहोगी क्या?" दोहरी हुई जा रही दूब का धीमा स्वर फूटा—"यहाँ के बड़े-बूढ़े वृक्षों के सामने भला मेरी क्या बिसात राजकुमार! नक्कारख़ाने में तूती की आवाज़ जान पड़ेगी, लेकिन, फिर भी मैं इतना गर्व जरूर करूँगी कि भले मैं प्रजा को न मीठे फल दे सकती हूँ, न छाँह, न मैं किसी पक्षी का बसेरा बन सकती हूँ, न ही मेरे पास किसी की सेहत के लिए कोई रामबाण ही है। मैं तो बस आपके पशुओं को भोजन दे सकती हूँ। हरी-भरी दूब चर कर वे ख़ुशहाल ज़रूर हो जाते हैं। हाँ, और मुझ पर लोट-पोट कर प्रसन्न। और क्या कर सकती हूँ मैं भला!!"

राजकुमार ने उस पर दोबारा हाथ फेरते हुए कहा—"अरे बहन, तुम ही तो पूजा की थाली में सजती हो, तुम्हारी हरियाली ही तो आँखों का

सुकून है। चित्त में तुम्हीं तो ठण्डक पहुँचाती हो, कोमलता का दूसरा नाम ही तुम हो।"

दूब की पाँत-पाँत झूम उठी।

राजकुमार चलते-चलते अपने ही ख़यालों में खो गया—पत्ते-पत्ते, बूटे-बूटे की अपनी ख़ासियत है। सृष्टि के कण-कण की अपनी अहमियत है। यहाँ दाना-भर भी कोई चीज़ फ़िजूल नहीं है। सोचते-सोचते राजकुमार अपने बग़ीचे की उस ओर आन पहुँचा जहाँ देश-विदेश के फूलों की बहार थी —ठण्डे-गरम प्रदेशों के पुष्पों को उनके माफ़िक मिट्टी और जलवायु देकर उगाया जा रहा था। सौन्दर्य के उस हाट में ऐसी-ऐसी ख़ुशबुओं का, ऐसे-ऐसे रंगों का जमघट था कि राजकुमार चुपचाप वहीं बैठ कर उनका लावण्य पीता गया, अपने अन्दर उतारता गया। अचानक उसकी दृष्टि पास ही उग रहे एक नन्हें-से, ख़ूबसूरत फूल पर पड़ी। दोनों की आँखें चार हुईं और फूल मानों राजकुमार के हृदय से अब तक उझकते सवाल को ताड़ कर अपने में और भी सिमट-सिकुड़ गया। लेकिन राजकुमार तो मानों पल-भर में उसके सौन्दर्य पर लट्टू हो गया। झुक कर, बड़े ही मीठे स्वर में उसने पूछा—"कौन हो तुम? अपने बग़ीचे में पहले तो तुम्हें नहीं देखा अतिथि... और कहाँ से पायी है तुमने इतनी सुन्दरता?" राजकुमार उसकी प्रशंसा के पुल बाँधता रहा और फूल सिमटता गया, फिर अचानक डरी हुई उसकी आवाज़ फूटी—"राजन्, नहीं, नहीं, मैं कुछ नहीं दे सकती, कुछ नहीं दे सकती—न छाँह, न बसेरा, न औषध, न फल!!"

अपनी वाणी में मिसरी घोलते हुए राजकुमार बोला—"डरो मत, तुम हो कौन?"

"मैं हूँ नरगिस! मैं और कुछ नहीं कर सकती राजकुमार, बस सुन्दर-से-सुन्दर नरगिस बनने की कोशिश करती हूँ। अपना उत्तम-से-उत्तम रूप निखार कर, 'उसके' चरणों में सौंप देती हूँ 'जिसने' मुझे बनाया...।"

"नरगिस, नरगिस, तुम हो नरगिस!" राजकुमार ख़ुशी से बौखला उठा। "कवियों की प्रेरणा! तुमने तो मुझे, मेरी प्रजा को, संसार के हर एक प्राणी को वह अनमोल धरोहर दे दी जिसकी मिसाल नहीं—हर एक अपने उत्तम-से-उत्तम रूप में निखर कर 'उसके' चरणों में पुजापा बन जाये—तुमने मुझे जिस सच्चाई से परिचित कराया वह तो देनों की देन है। शायद यही

सत्य पाने के लिए मेरे अन्दर का दार्शनिक आज अचानक जग उठा था!"

राजकुमार ने देखा वह अपरूप सम्पूर्ण सौन्दर्य जिसने स्वयं को पूरी तरह उस 'परमम् स्वयम्' पर निछावर कर दिया था।

न केवल राजकुमार, बग़ीचे की हर एक लता और वृक्ष के कानों में चुपके से हवा ने नरगिस का गुरुमन्त्र फूँक दिया, और सारे बग़ीचे पर जादू की छड़ी फिर गयी। झुक-झुक कर हर एक ने उस लघु पुष्प की स्तुति-वन्दना की जिसने उन्हें जीवन का गुर पल-भर में सिखा दिया था।

मई २०१२ से —वन्दना

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—१८०रु.; तीन वर्ष—५२०रु.; पाँच वर्ष—८६०रु.

संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू,
पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

Date of Publication: 1st October 2020
Rs. 30 (Monthly)

Registered: PY/47/2018-20
RNI No.18135/70

A school by The Vatika Group vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 2. My son's journey with this school started 3 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 2

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2019-20

ICSE Curriculum

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 to Grade 9

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gugaon
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gugaon
+91 124 4681600, +91 9821786363